भर्तृहरिकृत

शतकत्रयम्

(नीति, शृंगार एवं वैराग्यशतक भाषानुवाद सहित)

अनुवादक

श्रीकांत खरे

भूमिका लेखक

कमलेशदत्त त्रिपाठी

संपादक

श्रीकृष्ण दास

मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

प्रकाशक :

मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,

इलाहाबाद ।

मूल्य

तीन रुपये

मुद्रक :

श्री वीरेन्द्रनाथ घोष

माया प्रेस प्राइवेट लिमिटेड,

इलाहाबाद ।

निवेदन

भर्तृहरिकृत 'शतकत्रयम्' संस्कृत साहित्य का अनमोल रत्न है। विचारों की उदात्तता, शैली की सरलता, पदों के लालित्य और रचना के कौशल के कारण वह भारती कण्ठाभरण के अनमोल मणियों जैसा पिछले बारह-तेरह सौ वर्षों से जगमग करता रहा है, देदीप्यमान होता रहा है। नीति, शृंगार और वैराग्य से सम्बन्धित ये श्लोक भारतीय समाज के तन-मन को सदियों से अनुप्राणित और उत्प्रेरित करते रहे हैं। इनको इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई कि अन्य साहित्यकारों एवं मनीषियों ने 'शतकत्रयम्' की मुक्तक परम्परा को विचार के अन्य क्षेत्रों में भी प्रयुक्त किया और अपने साहित्य को अधिकाधिक मात्रा में सुषमा-सम्पन्न किया। संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी इस परम्परा का पालन किया गया और मुक्तक काव्य की उत्कृष्ट रचनाएँ हुईं। हिन्दी में भी अनेक यशस्वी सुकृतिवान कवियों ने इस मुक्तक परम्परा का अनुगमन किया और नीति एवं शृंगार के उत्कृष्टतम दोहों की रचना की। इस प्रकार मुक्तक काव्य की परम्परा भारतीय वाङ्मय में अबाध गति से चलती चली आई है।

'शतकत्रयम्' में नीति के १११ श्लोक, शृंगार के १०० श्लोक और वैराग्य के ११३ श्लोक संकलित हैं। इस प्रकार यह कुल ३२४ श्लोकों का संग्रह है। यद्यपि इनमें से कुछ श्लोकों के सम्बन्ध में यह धारणा भी है कि ये प्रक्षिप्त हैं, परन्तु परम्परा से वे भर्तृहरिकृत ही माने जाते हैं और हमने उन्हें इसी रूप में प्रस्तुत संकलन में सम्मिलित किया है। इसी प्रकार शृंगार शतकम् के १५ वें श्लोक में, 'उद्वृत्तः' के स्थान पर हमने 'यद्वृत्तः' और 'पंक्तिकेव' के स्थान पर 'पंक्तिरेव,' ३६ वें श्लोक में, परिमल प्राग्भार' के स्थान पर 'परिमलाः प्राग्भार' को स्वीकार कर लिया है। ७२वें

श्लोक में 'मुह्यति' के स्थान पर माद्यति' और 'विद्वानपि' के स्थान पर 'जानन्नपि', ७९ वें श्लोक में 'कृतिधर' के स्थान पर 'कृतिवरं' ही रहने दिया है। वैराग्यशतकम् के ५५ वें श्लोक में 'भुग्धूम' के स्थान पर 'भुग्भूम', ७५ वें श्लोक में 'परमर्थनीयम्' के स्थान पर 'परमार्थनीयम्' को ही ग्राह्य समझा है। शब्दों के चुनाव के सम्बन्ध में भर्तृहरि अत्यन्त सजग रहे हैं। अतः उनके श्लोकों में शब्दों के हेरफेर की गुंजायश बहुत कम रही है।

भर्तृहरिकृत 'शतकत्रयम्' को प्रकाशित करते समय हमें विशेष आनन्द हो रहा है। 'शतकत्रयम्' तीन भागों में विभाजित है—नीतिशतक, श्रृंगारशतक और वैराग्यशतक। इन शतकों का प्रत्येक श्लोक अत्यन्त ललित, मधुर और उत्कृष्ट है। साथ ही ये सारे के सारे श्लोक विचारोत्तेजक भी हैं। महर्षि भर्तृहरि को जीवन के प्रत्येक पक्ष का अनुभव प्राप्त था। वह अत्यन्त गम्भीर विचारक थे। भारतीय लौकिक एवं अध्यात्मिक साहित्य का उन्होंने अच्छी तरह मंथन किया था। 'सत्य' और 'शिव' और 'सुन्दर' के वह अनन्य उपासक थे। उनकी दृष्टि निर्मल थी। वह मंत्रद्रष्टा थे। इसलिए चाहे नीति हो अथवा श्रृंगार हो या वैराग्य हो, वह जो कुछ कहते हैं वह अन्तिम और परमसत्य के रूप में हमारे सामने उद्भासित होता है। इसीलिए 'शतकत्रयम्' की ख्याति देश की सीमाओं के बाहर भी पहुँची और सर्वत्र विद्वन्मंडली में भर्तृहरि के शतक समादृत हुए। 'शतकत्रयम्' का प्रस्तुत संस्करण ललित भाषानुवाद के कारण और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। यद्यपि 'शतकत्रयम्' के अनेक संस्करण प्राप्त हैं फिर भी इस संस्करण को प्रकाशित करने का प्रयोजन केवल यही है कि 'शतकत्रयम्' अधिकाधिक संख्या में सभी पाठकों के पास पहुँचे और इससे वे लाभान्वित हों। ग्रंथ और ग्रंथकार के सम्बन्ध में जो अनुशीलनपूर्ण लेख भूमिका स्वरूप जोड़ दिया गया है उससे इस संस्करण की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ गई है। आशा है विज्ञ पाठक इस संस्करण को अपने स्नेह-क्रोड़ में प्रश्रय देंगे।

—श्रीकृष्ण दास

भूमिका

संस्कृत मुक्तकों की सुदीर्घ परम्परा में महान् कवियों के नाम आते हैं। कालिदास ने महाकाव्यों और खण्डकाव्यों की सृष्टि की। उनकी रचना के रूप में मुक्तकों का नाम भी लिया जाता है, किन्तु ये मुक्तक महान् नाटककार और महाकवि कालिदास की ही रचनाएँ हैं, इसका प्रमाण नहीं। कालिदास के बाद मुक्तकों की शक्तिशाली परम्परा है। इस परम्परा में कालक्रम के निर्धारण की समस्या बड़ी महत्वपूर्ण है। भर्तृहरि के काल का निर्धारण इसलिये भी महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि कालिदास के पश्चाद्वर्ती मुक्तक कवियों में यही प्रथम सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं।

भर्तृहरि भारतीय अनुश्रुतियों में समाये अत्यन्त रहस्यमय व्यक्ति हैं। साहित्य और लोकवाणी में कालिदास के समान ही भर्तृहरि के साथ भी अनेक अनुश्रुतियाँ जुड़ी हुई हैं। इन अनुश्रुतियों का विभिन्न रूप है—

(१) ब्राह्मण चन्द्रगुप्त के चार पत्नियाँ थी—एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, एक वैश्य, एक शूद्र। उनके नाम क्रमशः ब्राह्मणी, भानुमती, भाग्यवती और सिन्धुमती थे। प्रत्येक पत्नी ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया। प्रथम पत्नी से वररुचि, द्वितीय से विक्रमार्क, तृतीय से भट्टि और चतुर्थ से भर्तृहरि उत्पन्न हुए। विक्रमार्क राजा हुआ और भट्टि उसका मंत्री।

(२) एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार वलभी के नरेश भट्टार्क वास्तविक भट्टि थे। उनकी राजसभा के कवि भर्तृहरि ने 'रावणवध' की रचना की और उसे अपने आश्रयदाता के नाम से प्रचारित कर दिया।

(३) दूसरी कथा के अनुसार भर्तृहरि स्वयं राजा थे। एक दिन एक ब्राह्मण एक अमूल्य फल उनके पास ले आया। यह फल भर्तृहरि ने अपनी पत्नी को भेंट

किया। रानी ने इसे अपने जारपति को भेंट कर दिया। इस बात के पता चलने पर भर्तृहरि को संसार पर अविश्वास हो गया। उन्होंने संसार को त्याग कर सन्यास स्वीकार किया। कहा जाता है उनके इस श्लोक में यह बात में ध्वनित है—

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥

वह रम्य नगरी, वह महान् नृपति और सामन्त मंडल और उसके पार्श्व में वह विदग्ध-पंडितों की सभा, वे चन्द्रमंडल से आननवाली रमणियाँ, उद्वृत्त राजकुमारों का वह समूह, वे चारण, वे कथाएँ! जिसके कारण यह सब याद बनकर रह गया, उस काल को नमस्कार है।

भर्तृहरि के सम्बन्ध में अनुश्रुतियों का विभिन्न रूप उपलब्ध होता हैं।[१] सम्प्रति उपलब्ध लोककथाओं में भी 'राजा भरथरी' का 'जोगी' रूप और उनकी रानी की कहानियाँ जीवित हैं। इन कहानियों से भर्तृहरि की प्राचीनता तो स्पष्ट ही है।

भर्तृहरि और 'भट्टिकाव्य' के रचयिता कवि भट्टि को एक बताने का प्रयत्न भी किया गया हैं। भट्टिकाव्य के टीकाकार जयमंगल और हरिहर ने लिखा—**'श्रीस्वामिसूनुः कविर्भट्टिनामा रामकथाश्रयं महाकाव्यं चकार।'** कन्दर्प चक्रवर्ती ने काव्य को 'भट्टि' और कवि को 'भर्तृहरि' बताया—**'अत्र तावन्महामहोपाध्यायश्री भर्तृहरिकविना शब्दकाण्डयोर्लक्षणम्।'** नारायण विद्याविनोद ने श्रीधरस्वामी के पुत्र 'भर्तृहरि' को इसका रचयिता बताया। भरतमल्लिक ने भी लिखा—**'भर्तृहरिनामकविः श्रीरामकथाश्रयं महाकाव्यं चकार।'**

'भट्टि' शब्द को 'भर्तृ' का प्राकृतरूप समझा गया। कोलब्रुक ने विद्याविनोद के साक्ष्य के आधार पर भट्टिकाव्य का रचयिता 'भर्तृहरि वैयाकरण' को माना। विक्रमादित्य के भाई 'भर्तृहरि' को नहीं। अउफ्रेश्त भट्टिकाव्य के रचयिता का

---

१. हिस्टरी ऑव् क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर—कृष्णमाचारियर—पृष्ठ १४१

नाम 'भट्टि' बताते हैं; जिन्हें 'भर्तृस्वामिन्' 'भट्टस्वामिन्' और 'स्वामीभट्ट' भी कहा जाता है। उन्होंने बताया कि कवि 'श्रीधरस्वामी' अथवा 'श्रीस्वामी' का पुत्र था। अन्तत: वे भट्टि और भर्तृहरि का अलग उल्लेख करते हैं।

एक अनुश्रुति के अनुसार भर्तृहरि एक बार अपने शिष्यों को व्याकरण पढ़ा रहे थे। इस बीच उनके तथा शिष्यों के मध्य से एक हाथी निकल गया। इसे अपशकुन मान कर उन्होंने एक वर्ष के लिये पढ़ाना बन्द करने का निश्चय किया। किन्तु वह रुक नहीं सके। उन्होंने काव्य के माध्यम से व्याकरण पढ़ाने की विधि सोची और इस प्रयोजन से काव्य की रचना वर्ष भर में कर डाली।

ये अनुश्रुतियाँ भट्टिकाव्य के रचयिता 'भट्टि' और भर्तृहरि को एक व्यक्ति बताती हैं। स्पष्ट है, यह भर्तृहरि व्याकरण के पंडित हैं।

प्रसिद्ध चीनी यात्री इ-त्सिंग ने लिखा है कि उसके लिखने के चालीस वर्ष पूर्व अर्थात् लगभग सन् ६५१ ई० में भर्तृहरि नामक एक वैयाकरण विद्वान् की मृत्यु हुई। इ-त्सिंग ने कहा है कि वह सात बार गार्हस्थ्य जीवन और बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट भिक्षु जीवन के बीच भटकते रहे। एक बार जब उन्होंने भिक्षु संघ में प्रवेश किया तो अपने एक शिष्य को एक रथ लेकर बाहर प्रतीक्षा करने का आदेश दिया, ताकि यदि उनकी कठिनाई से प्राप्त विरक्ति पर सांसारिक आकर्षण विजय प्राप्त कर ले, तो वह तुरन्त संघ से विदा ले सकें। इ-त्सिग एक श्लोक का भी ज़िक्र करता है जिसमें भर्तृहरि अपने को इसलिये धिक्कारते हैं कि वे दो भिन्न प्रकार के जीवनों के प्रति अपने आकर्षण के संबन्ध में कोई निर्णय नहीं ले पाते। प्रसिद्ध विद्वान् ए० बी० कीथ इ-त्सिग द्वारा उल्लिखित वैयाकरण भर्तृहरि को ही निश्चित रूप से 'वाक्यपदीय' का रचयिता भर्तृहरि मानते हैं। वह प्रोफ़ेसर मैक्समुलर की इस सम्मति को स्वीकार करते है कि इ-त्सिग के उपर्युक्त उल्लेखों के अनुसार वैयाकरण भर्तृहरि ही 'शतकत्रय' के भी रचयिता हैं। यद्यपि कीथ महोदय यह कहते हैं कि इ-त्सिग निश्चित रूप से उनका उल्लेख नहीं करता, क्योंकि मानव जीवन में सामान्य रूप से प्राप्य जिन बातों का इ-त्सिग उल्लेख करता है, उन्हें भर्तृहरि के संबन्ध में वास्तविक संकेत के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह भी स्पष्ट है कि शतकों के भर्तृहरि बौद्ध नहीं है। यद्यपि वे बौद्धों

की ही भाँति 'तृष्णा' से मुक्ति और विराग के विचार पर आते हैं, किन्तु शैव वेदान्ती के रूप में, जो 'शिव' को 'ब्रह्म' की परिकल्पना में देखता है। कीथ यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भर्तृहरि पहले राजसभा से संबद्ध रहे होंगे, जैसा कि उनके बड़े लोगों की सेवा की कठिनाइयों के वर्णन से प्रतीत होता है। उस समय वह शैव रहे होंगे, बाद में वह बौद्ध हो गये होंगे। इ-त्सिग ने या तो उनकी शतकों के बारे में सुना ही न होगा अथवा जान बूझ कर उपेक्षा कर दी होगी। अथवा भर्तृहरि पहले तो बौद्ध रहे होंगे, उस पर से विश्वास हटने के बाद उन्होंने शतकें लिखी होंगी। बौद्ध इ-त्सिग इस तथ्य को जानकर भी लिख न सका होगा। या, यदि भर्तृहरि संकलनकर्ता मात्र रहे हों, तब तो कोई कठिनाई रह ही नहीं जाती। कीथ इस बात से सहमत नहीं हैं कि इ-त्सिग को पूर्ववर्ती कवि भर्तृहरि तथा उत्तरवर्ती वैयाकरण भर्तृहरि को एक मानने का भ्रम हुआ। कुल मिला कर कीथ को प्रतीत होता है कि मैक्समूलर का अनुमान सत्य हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भर्तृहरि के सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं—

(१) 'रावण वध' महाकाव्य के रचयिता 'भट्टि' और 'वाक्यपदीय' के लेखक भर्तृहरि एक ही हैं या नहीं।

(२) 'वाक्यपदीय' के रचयिता वैयाकरण भर्तृहरि तथा 'शतकत्रय' के रचयिता भर्तृहरि एक ही हैं या नहीं।

(३) क्या भट्टिकाव्य के रचयिता तथा 'शतकत्रय' के रचयिता एक ही हैं?

'वाक्यपदीय' के रचयिता भर्तृहरि तथा भट्टिकाव्य के रचयिता को एक मानने के लिये केवल एक आधार है; वह यह कि 'रावणवध' महाकाव्य की रचना व्याकरण के प्रयोगों को काव्य के माध्यम से अनायास समझा देने की दृष्टि से की गयी है, अतः इसका रचयिता गंभीर वैयाकरण रहा होगा। 'भट्टि' 'भर्तृ' का प्राकृत रूप हो सकता है, इसीलिये वाक्यपदीय का 'भर्तृ' और 'भट्टि' एक ही हैं। 'शतकत्रय' के

१. ए हिस्टरी ऑव् संस्कृत लिटरेचर—ए० बी० कीथ, लन्दन, १९५३

रचयिता और वाक्यपदीयकार एक ही हैं। किन्तु किन्हीं दो रचनाओं अथवा तीनों के ऐक्य का आधार इ-त्सिंग का उपर्युक्त उल्लेख है। इस तरह 'रावणवध' का रचयिता वाक्यपदीयकार ही है, इसका आधार निश्चय ही ठोस नहीं हैं। अतः इस सम्बन्ध में कोई निर्णयपूर्ण प्रमाण साध्य नहीं हो सकता।

एक बात विचार की है कि भट्टि के कथनानुसार उनके महाकाव्य की रचना किसी बलभी नरेश श्रीधरसेन के राज्यकाल में हुई। इस नाम के चार राजा बलभी संवत् १८३ से ३३० के बीच हुए।

श्रीधरसेन नामक अंतिम राजा की मृत्यु ६४१ ई० में हुई। श्रीधरसेन द्वितीय (६१० ई०) के शिलालेख में भट्टि नामक किसी विद्वान् को भूमि देने का उल्लेख है। भामह भट्टि से परिचित थे, अतः इनका काल भट्टि का समय माना जा सकता है। इ-त्सिंग के अनुसार भर्तृहरि की मृत्यु ६५१ ई० के लगभग हुई। अतः इन दोनों के समय में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है।

अनुश्रुति भर्तृहरि को किसी 'विक्रम' से भी जोड़ती है। उपर्युक्त समय के आसपास ५४४ ई० में शकों को करूर की लड़ाई में पराजित करने वाले उज्जयिनी के हर्ष विक्रमादित्य की स्थिति का पता हमें है। यदि उपलब्ध अनुश्रुति मान ली जाय तो भर्तृहरि को विक्रम से सम्बन्धित करने वाले यही विक्रमादित्य सामने रह जाते हैं।

शतकों की अपनी भूमिका में तैलंग महोदय भर्तृहरि को ईसवीय प्रथम-द्वितीय शतक में रखते हैं।

इन विभिन्न मतमतान्तरों में निर्णय की स्थिति दृढ़ प्रमाण के अभाव में प्राप्य नहीं है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शतकत्रय के रचयिता भर्तृहरि सातवीं शती के बाद के कथमपि नहीं हो सकते। कीथ का यह निष्कर्ष भी तर्क-संगत प्रतीत होता है कि अनुश्रुति से कोई ऐसा ऐतिहासिक तत्व नहीं मिलता जो भर्तृहरि के विक्रमादित्य से संबन्ध स्थापित करने में सहायक हो। उनकी भट्टि से एकता की बात भी तर्कसंगत नहीं। अन्ततः शतकत्रय के रचयिता और वैयाकरण भर्तृहरि के एक होने की बात ही कुछ आधारयुक्त रह जाती है।

भर्तृहरि को योगी के रूप में स्वीकारने की प्रवृत्ति हमारे लोक-साहित्य में पायी जाती है। इस विश्वास का मूल सम्भवतः हरिहर रचित 'भर्तृहरिनिर्वेद'

नाटक है। इस नाटक में योग की महिमा का प्रतिपादन है। इसमें स्थूल भौतिक शरीर से आत्मा को पृथक् करने का तथा संसार से विराग का संदेश दिया गया है। इस नाटक के मुख्य पात्र प्रसिद्ध योगी गोरक्षनाथ अथवा गोरखनाथ हैं, जिन्होंने पन्द्रहवीं शती के आरंभ में कनफटा योगियों के संप्रदाय की स्थापना की। इन्हें शिव का अवतार माना गया। इनका मंदिर आज भी गोरखपुर (उत्तरप्रदेश) में है।

भर्तृहरि अपनी पत्नी की मृत्यु की असत्य सूचना सुनकर आकुल हो उठे। एक योगी ने उन्हें सान्त्वना दी और उन्होंने ऐसी शक्ति प्राप्त की कि उन्होंने वस्तुतः मृत अपनी पत्नी को जीवित कर लिया। किन्तु उनका संसार से मोह छूट गया।

भर्तृहरि का व्यक्तित्व जितना रहस्यपूर्ण और ऐतिहासिक दृष्टि से उलझा हुआ है, उनकी कृति के संबन्ध में भी उतना ही उलझाव है। आज उपलब्ध तीन शतकों में कितने ही ऐसे श्लोक हैं जो अन्य कवियों की रचनाएँ हैं। इस संबन्ध में 'सुभाषितावली' नामक प्राचीन सुभाषित-संग्रह के सम्पादक पी० पीटर्सन की सूचना महत्वपूर्ण है—"तेलंग के संस्करण में नीतिशतक में दिये गये ११० श्लोकों में से ८ श्लोक हमारी पुस्तक में भर्तृहरि के नाम से व्यक्तरूप में संबद्ध हैं, ३२ नामोद्धरण के बिना दिये गये हैं तथा १३ व्यक्त रूप से दूसरे लेखकों से संबद्ध हैं। तेलंग के संस्करण में दिये गये 'वैराग्यशतक' के ११३ श्लोकों में से ११ हमारी पुस्तक में व्यक्तरूप से भर्तृहरि से संबद्ध हैं, ११ नामोद्धरण के बिना दिये गये हैं तथा ६ व्यक्तरूप से दूसरे लेखकों से संबद्ध हैं। बोह्लेन के संस्करण में 'वैराग्यशतक' में दिये गये १०० श्लोकों में से केवल १ भर्तृहरि के नाम से है, १७ बिना नामोद्धरण के हैं और ८ व्यक्तरूप से अन्य लेखकों के नाम से हैं।" इस संबन्ध में ए० बी० कीथ का मत है कि, "'नीतिशतक' और 'वैराग्यशतक' में भर्तृहरि की अपनी रचनाओं के साथ ही दूसरे रचनाकारों की रचनाओं के संकलन की संभावना अपरिहार्य है। हाँ, 'शृंगारशतक' की बात दूसरी है—क्योंकि उसका एक निश्चित ढाँचा है, जो, सचमुच, एक कुशल संग्रहकर्ता का कार्य हो सकता है, किन्तु जो अधिक स्वाभाविक रूप से सृजनशील मस्तिष्क का कृतित्व होने का संकेत करता है।"

भर्तृहरि चाहे जब हुए, उन्होंने अपनी शतकों में चाहे संकलन किया हो या सारे श्लोक उनकी ही रचनाएँ हों; किन्तु इतना निश्चित है कि उनकी शतकों में प्राप्त श्लोक संस्कृत के मुक्तकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी नीति, शृंगार तथा वैराग्य शतकों में मुक्तकों का कवित्व से पूर्ण रूप दृष्टिगोचर होता है। काव्य में नीति, शृंगार तथा वैराग्य को विषय वस्तु स्वीकार करने की प्रवृत्ति भर्तृहरि से पूर्वतन ही है। संस्कृत काव्य के लिये महाभारत की नीतिपरक उक्तियाँ बड़ी जानी-पहचानी हैं। बौद्ध जातकों में गाथाओं का आधार लेकर कहानियों के माध्यम से नीति के तत्व उजागर किये गये। पंचतंत्र और हितोपदेश की जन्तु-कथाएँ नीति का ज्ञान कराने के लिये ही रची गयीं। बड़े ही सुगमरूप में जीवन की नीति और आचार का बोध कराने के लिये संस्कृत के कवियों ने कविता का माध्यम स्वीकार कर लिया। ऐसी रचनाओं में प्रायः बड़ी प्रौढ़ कविता के साथ नीति-परक भावों की अभिव्यक्ति है। मैकडानल का कहना है—"संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों में असंख्य नीतिवाक्य बिखरे हैं जिनमें असंख्य बुद्धिमत्तापूर्ण एवं उदात्त, मौलिक और चोट करने वाले विचार बहुधा अत्यन्त परिष्कृत और काव्यात्मक रूप में दिखाई पड़ते हैं। स्मृतियों में ये भरे पड़े हैं। महाकाव्यों और नाटकों में ये बहुधा नायकों, देवताओं और ऋषियों के ओठों पर आ जाते हैं।" इसके अतिरिक्त संस्कृत काव्यों की एक स्वतंत्र विधा के रूप में नीतिपरक, शान्ति-परक और शृंगारपरक मुक्तकों का विकास हुआ। अश्वघोष तथा मातृचेट के स्तोत्र, तथा कालिदास के 'ऋतु संहार' जैसे खंडकाव्य में प्रकृति का स्फुट वर्णन इस प्रकार के काव्य के अवतार की भूमिका है। इनसे पूर्व के पाणिनि तथा वररुचि के नाम से स्फुट श्लोक पाये जाते हैं, जिनमें भर्तृहरि द्वारा रचित मुक्तकों की भूमिका मिलती है। रुद्रटालंकार के व्याख्याकार नमिसाधु ने महाकवियों की रचनाओं में भी 'अपशब्दपात' के दर्शन पर टिप्पणी करते हुए इस प्रसंग में पाणिनि का एक श्लोक उद्धृत किया है—

गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत् प्रावृषि कालमेघाः।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुङ्करोति॥

आधी रात बीत जाने पर बरसात में जो काले बादल गर्जन करते हैं, लगता है चन्द्र के बिम्ब को न देख कर वे डहकते हैं जैसे गाय अपने बछड़े के लिये रंभा रही हो।

'ध्वन्यालोक' में बिना नाम से उद्धृत यह श्लोक शांर्ङ्गधरपद्धति में पाणिनि के नाम से उद्धृत है—

उपोढरागेण विलोलतारकम्,
तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया,
पुरोऽपि रागात् गलितं न लक्षितम् ।

रागभरे (अरुण-अनुरागयुक्त), चंचल तारक (चंचल पुतलियों वाले-चमकते तारागण से भरे), निशा के मुख (आरंभ-आनन) का ग्रहण चन्द्र ने यों किया कि वह रागवश अपने गिरते तिमिरांशुक (अन्धकार रूपी उत्तरीय-नीलांशुक) को भी न जान पायी ।

वहीं पर पाणिनि के नाम से एक दूसरा श्लोक भी है—

क्षपाः क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।
क्व संप्रत्युष्णांशुर्गत इति समालोकनपरा-
स्तडिद्दीपालोका दिशि दिशि चरन्तीह जलदाः ।।

रातों को शुष्क कर, सरिताओं से बलात् जल का अपहरण कर, सारी धरती को तपा कर, सारे तरुगहन बन को सुखा कर अब सूर्य गया कहाँ ? इस भावना से बिजलीरूपी दीपक के प्रकाश में उसे ढूंढते हुए बादल अब दिशा-दिशा में विचरण कर रहे हैं ।

'सदुक्ति कर्णामृत' में पाणिनि के नाम से श्लोक उद्धृत है—

असौ गिरेः शीतलकन्दरस्थः
पारावतो मन्मथचाटुदक्षः ।
घर्मालसाङ्गी मधुराणि कूजन्
संवीजते पक्षपुटेन कान्ताम् ।।

पर्वत की शीतल कन्दरा में स्थित, कामावस्था में मनुहार में कुशल यह कपोत घाम-से अलसायी कपोती पर पंख से हवा झल रहा है ।

पाणिनि के इन श्लोकों की परम्परा में प्रसिद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमिन् ने भी स्फुट श्लोकों की रचना की। 'सुभाषितावली' में उनके श्लोक उद्धृत हैं—

विषयस्य च विषयाणां दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि ।।

विष और विषय में अधिक दूरी नहीं है—विष खा लेने पर हनन करता है, विषय तो स्मरणमात्र से ही।

केचिद्भयेन हि भजन्ति विनीतभाव-
मन्ये जनाः विभवलोभकृतप्रयत्नाः ।
केचिच्चय साधुजनसंसदि कीर्तिलोभात्,
सद्भाववाञ्जगति कोऽपि न साधुरस्ति ।।

कोई भय से विनीत रहता है, दूसरे लोग धन के लोभ से प्रयत्न करते हैं, कुछ सज्जनों के बीच प्रशंसा के लोभ से, लेकिन कोई भी सद्भावों से युक्त होकर इस संसार में सज्जन नहीं होता।

चन्द्रगोमिन् का समय लगभग पाँचवीं शताब्दी ईसवीय है।

लगभग पाँचवीं शताब्दी के सुन्दर पाण्ड्य की आर्या रचनाएँ भी इसी भाँति प्रशंसित रही हैं। इसके साथ प्राकृत में मुक्तकों की परम्परा चल ही रही थी। हाल द्वारा संकलित 'गाहा सत्तसई' में वह धारा सुरक्षित है।

इन सारी भूमिकाओं में भर्तृहरि की 'शतकत्रय' की उपलब्धि बड़ी महत्वपूर्ण है। भर्तृहरि ने पहली बार नीति, शृंगार और वैराग्य के विषय का विभाजन कर अलग-अलग शतकों की रचना की। उनके श्लोकों में भाषा की अद्भुत सरलता के साथ जीवन के सार्वभौम अनुभवों को कविता का जामा पहनाया गया है। उनकी नीतिशतक जीवन के सत्यों को काव्यरूप में प्रस्तुत करने में अत्यन्त सफल रही है। कवि ने जीवन की यथार्थता के दर्शन के प्रसंग में शृंगार के महत्वपूर्ण स्थान को पहचानने में भूल नहीं की। रमणी के मदकारी आर्कषण और प्रकृति की मोहनी छटा का उद्दीपन उसके लिये वर्ण्य विषय बना। कामिनी के अधर, नयन, उरोज, उरू सभी कुछ उसे आकर्षक लगे। छहों ऋतुओं का रूप उसे मनोहारी लगा। पर भर्तृहरि के मन में एक प्रश्न चिह्न लगा रहा।

सेव्या नितम्बा किमु भूधराणा-
मुतस्मरस्मेरविलासिनीनाम् ?

कवि को प्रश्न का उत्तर मिला। उसे इस संसार से विराग में ही जीवन की सार्थकता का भान हुआ। दिक्कालादि से अनवच्छिन्न, अनन्त और चिन्मात्रमूर्ति, स्वानुभूत्येकसार 'शिव' के शरण में उसे शान्ति का निवास लगा। उसकी कामना थी कि गंगा के पवित्र तट पर एकान्त में केवल शिव का स्मरण किया जाय।

भर्तृहरि के श्लोकों में उक्ति के सीधेपन में ही कला का चरम परिष्कार दिखाई पड़ता है। रससृष्टि की दृष्टि से उनके मुक्तक अत्यन्त समर्थ हैं। यों तो संस्कृत मुक्तकों के इतिहास में—महाकाव्य से भिन्न रूप में—सर्वदा रससृष्टि में समर्थ और कलात्मक दृष्टि से ऊँचे तथा पूर्ण कृतित्व का अभाव नहीं रहा है, किन्तु भर्तृहरि की प्रतिभा से तो पश्चिम के 'तीक्ष्णदण्ड' आलोचक भी अभिभूत हो उठे। उनकी प्रतिभा कुछ ऐसी ही सरल है। उनकी उक्ति की चोट कुछ ऐसी ही मार्मिक है!

परन्तु 'शतकत्रयम्' केवल वैराग्य का ही सन्देश देता हो, ऐसी बात नहीं। नीति के श्लोकों में भर्तृहरि के जीवन के कठोर कोमल अनुभवों का निचोड़ अत्यन्त ललित शब्दों में, अत्यन्त सरल और चोटीले ढंग से रख दिया है। श्रृंगार शतक में चटख श्रृंगार है, खूब मांसल, अत्यन्त प्रभावशाली एवं मनोमोहक। और, वैराग्यशतक में कवि एक दार्शनिक और द्रष्टा के रूप में सामने आता है। जीवन के मधुर-तिक्त अनुभवों को अर्जित करने के बाद वह देखता है कि यह सब कुछ नहीं है, मिथ्या है, मृगजल है, व्यर्थ का मोह है। तब मनुष्य क्या करे? उसकी मुक्ति किसमें है? उसे स्वभावतः संसार से विरक्ति होती है, वितृष्णा होती है। उसका सारा ध्यान अपने आराध्य देव के चरणों में लग जाता है—वह जो अनादि है, अनन्त है, दिशा और काल से भी मुक्त है, जो मंगलमय है, शिव है!

प्रयाग
होलिकोत्सव
१९६२ ई०

—कमलेशदत्त त्रिपाठी

नीतिशतकम्
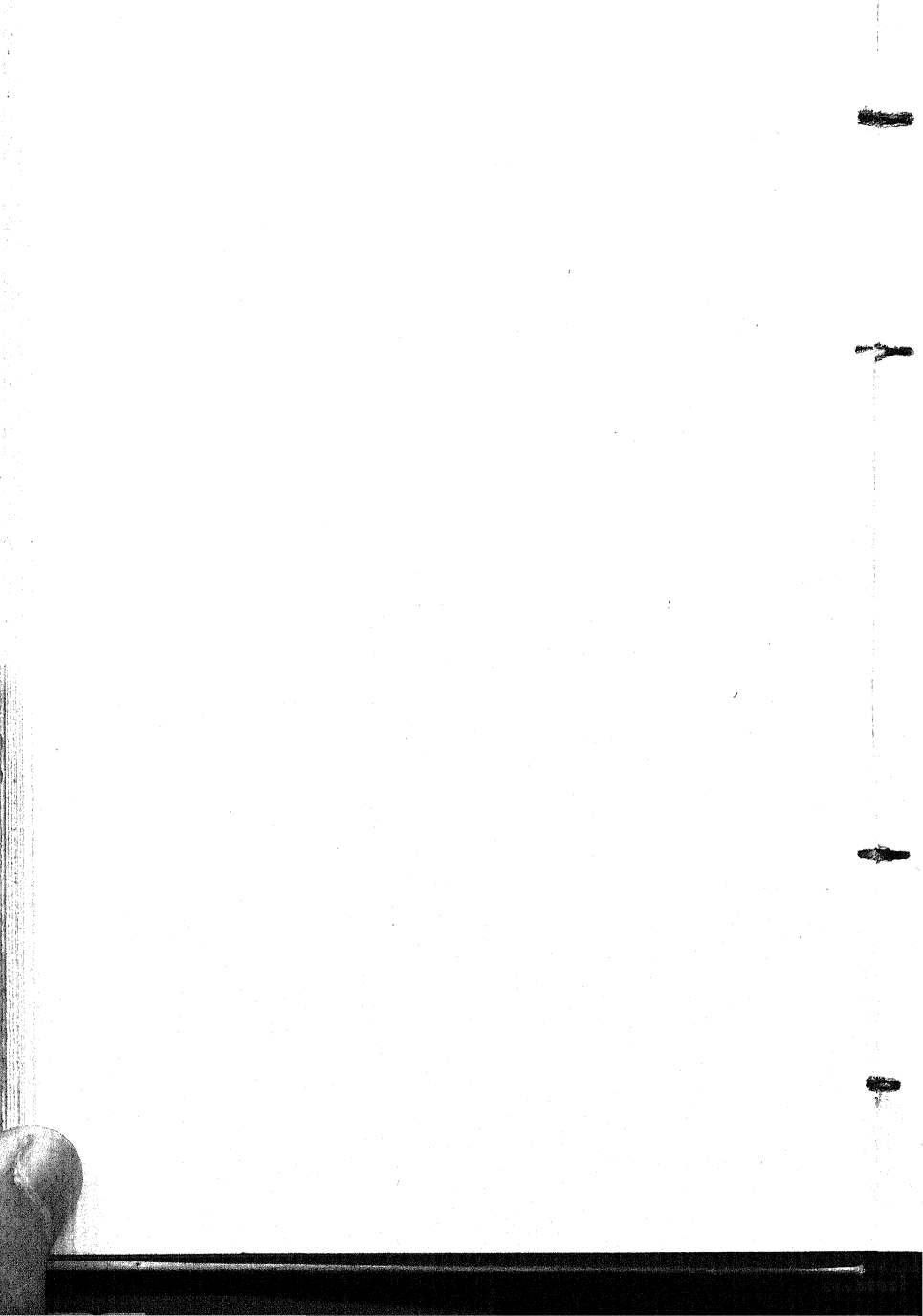
श्री गणेशाय नमः

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ॥
स्वानुभूत्येकसाराय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

देश-काल से अपरिसीमित, अनन्त, ज्ञानस्वरूप, अपनी (आन्तरिक) अनुभूति से ही बोधगम्य, शान्त तथा तेजरूप (ब्रह्म) को प्रणाम है ॥१॥

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ॥
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥२॥

जिस स्त्री की मैं निरन्तर कामना करता हूँ वह मुझसे विमुख हो कर दूसरे मनुष्य को चाहती है; और वह मनुष्य (जिसे मेरी प्रेयसी चाहती है) दूसरी स्त्री से अनुराग करता है; और मेरे लिए कोई दूसरी (स्त्री) संतोष किए बैठी है (अर्थात् मुझ पर आसक्त है) । (अतएव) उस स्त्री को जिसे मैं चाहता हूँ, उस पुरुष को (जिसे मेरी प्रेयसी चाहती है,) इस नारी को (जिस पर उक्त पुरुष आसक्त है) और मुझे भी तथा (उस) कामदेव को भी (जो इस प्रेम-प्रपंच के मूल में है) धिक्कार है ॥२॥

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ॥
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि च तं नरं न रंजयति ॥३॥

मूर्ख व्यक्ति को सुख से सिद्ध किया जा सकता, विद्वान पुरुष को और अधिक सुख से बस में किया जा सकता है। (परन्तु) दम्भी, स्वल्प ज्ञानवाले व्यक्ति को तो ब्रह्मा भी वशीभूत नहीं कर सकते ॥३॥

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रांकुरा-
त्समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ॥
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारये-
न्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥४॥

मगरमच्छ की वक्र दाढ़ों के बीच से (भी) बल का प्रयोग करके मणि निकाला जा सकता है; आन्दोलित लहरों वाले समुद्र को भी पार किया जा सकता है; क्रुद्ध साँप को भी सिर पर फूल के सदृश धारण किया जा सकता है, परन्तु (ऐसे) मूर्ख मनुष्य को वश में नहीं किया जा सकता (जिसका) मन बुराइयों में विलिप्त है ॥४॥

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन् ।
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ॥
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादये-
न्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥५॥

युक्ति से पेरने पर रेत से भी तेल प्राप्त किया सकता है। प्यासा मनुष्य मृगमरीचिका से भी पानी पी सकता है और खोजने पर शायद खरगोश की सींग भी मिल जाय। परन्तु (ऐसे) मूढ़ नर को वश में नहीं किया जा सकता (जिसका) मन बुराइयों में फँसा रहता है ॥५॥

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते ।
छेत्तुं वज्रमणीञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते ॥
माधुर्यं मधुविन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते ।
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यंदिभिः ॥६॥

जो दुष्टजनों को अपने अमृतरूपी सूक्तियों से अच्छे रास्ते पर लाना चाहता है वह (निश्चय ही) नरम कमलनाल की डोरी से हाथी को बाँधने की, शिरीष की पंखुड़ियों से हीरे को बेधने की तथा एक बूँद शहद से खारे सागर को मीठा करने की मिथ्या कामना करता है ॥६॥

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः ॥
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥७॥

मूर्खता के आवरण के रूप में ब्रह्मा ने मौन का सर्जन किया । यही एक गुण है जो अपने वश में रहता है । विशेषरूप से विद्वानों की सभा में चुपचाप रहना ही मूर्खों का अलङ्कार है ॥७॥

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं ।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ॥
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं ।
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥८॥

जब मैं स्वल्पज्ञ होने पर हाथी के समान मदांध था तब मेरा मन अपने को सर्वज्ञ समझ कर दम्भ से भर गया । (परन्तु) जब मुझे पण्डित-जनों के सम्पर्क से कुछ जानकारी हुई तब यह पता चला कि मैं मूर्ख हूँ (और फिर) मेरा अभिमान ज्वार की तरह उतर गया ॥८॥

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं ।
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ॥
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शंकते ।
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥९॥

तुच्छ कोटि का जन्तु उस वस्तु की शुद्धता पर (अथवा निःसारता पर) ध्यान नहीं देता जिसे वह ग्रहण करता है। (क्योंकि) निर्लज्ज, कुत्ता जिस समय कीड़ों से भरे हुए, लार से सने तथा दुर्गन्ध से भरे हुए मांसहीन और नीरस हाड़ को बड़े प्रेम से खाता रहता है उस समय अपने पास खड़े हुए इन्द्र को देख कर भी उन पर ध्यान नहीं देता ॥९॥

शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत्क्षितिधरं ।
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ॥
अधो गङ्गा सेयं पदमुपगता स्तोकमथ वा ।
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥१०॥

बुद्धि भ्रष्ट लोग सैकड़ों तरह से निरन्तर उसी प्रकार नीचे गिरते ही जाते हैं जैसे गङ्गा जी पहले स्वर्ग से शङ्कर जी के शिर पर गिरीं, फिर वहाँ से ऊँचे पर्वत पर, पर्वत से पृथिवी पर और फिर पृथिवी से समुद्र में क्रमशः नीचे ही गिरती गईं ॥१०॥

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो ।
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ॥
व्याधिर्भेषजसद्ग्रहैश्च विविधैर्मन्त्र प्रयोगैर्विषं ।
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥११॥

शास्त्रीय विधि के अनुकूल सभी चीज़ों की दवा है। (क्योंकि) आग का पानी से, धूप का छाते से, मदान्ध हाथी का तेज अंकुश से, दुष्ट बैल और गदहे का डंडे से तथा रोगों का अन्यान्य प्रकार की औषधियों से निवारण हो सकता है। परन्तु मूर्ख आदमी की कोई दवा नहीं ॥११॥

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥१२॥

जो व्यक्ति साहित्य और संगीत आदि कलाओं से विहीन है वह बिना सींग-पूँछ का प्रत्यक्ष जानवर है। इन पशुओं का यह बड़ा भाग्य है कि ये बिना तृण खाए ही जीवित रहते हैं ॥१२॥

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥१३॥

मनुष्य का रूप धारण किए हुए वे लोग मृत्युलोक में पृथ्वी पर भारस्वरूप पशु ही हैं जिनके पास न तो विद्या है, न तप, न दान, न ज्ञान, न चरित्र, न गुण और न धर्म ही है ॥१३॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥१४॥

मूर्ख पुरुष का सम्पर्क इन्द्र के यहाँ भी नहीं अच्छा। उससे अच्छा तो वन्य पशुओं के साथ पर्वतों और वनों में भ्रमण करना ही है ॥१४॥

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा ।
विख्याताः कवयो वसंति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ॥
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्थं विनापीश्वराः ।
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः ॥१५॥

वह राजा ही मूर्ख है जिस के यहाँ ऐसे कवि निर्धन हों जिनकी वाणी शास्त्रगत शब्दों से रमणीय है, जिनकी विद्या शिष्यों के लिए उपयोगी है और जो स्वयं प्रसिद्ध हैं। (क्योंकि) कवि तो बिना सम्पत्ति के भी श्रेष्ठ ही है। (उदाहरणार्थ) वे जौहरी ही खोटे हैं जिन्होंने मणियों का मूल्य कम कर दिया है (अर्थात् मणि नहीं) ॥ १५ ॥

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा ।
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम् ॥
कल्पांतेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमंतर्धनं ।
येषां तान्प्रति मानमुज्भत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते ॥१६॥

हे राजाओ ! (ऐश्वर्य का) अभिमान छोड़ दो। (क्योंकि) उनकी समता करने वाला दूसरा कौन है जिनके पास ऐसी विद्यारूपी आन्तरिक सम्पत्ति है जिसको चुराने वाला देख नहीं पाता, जो सर्वदा सुख की वृद्धि करती है, जो प्रार्थियों को दान देने पर निरन्तर बढ़ती रहती है और जो कल्पांत (अर्थात् संसार का अन्त) होने पर भी समाप्त नहीं होती ॥ १६ ॥

अधिगतंपरमार्थान्पण्डितान्मावमंस्था-
स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि ॥
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति विसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥१७॥

ऐसे विद्वान् पुरुषों का अनादर मत करो जिन्हें मोक्ष तक का साधन (विद्या) सुलभ है। (क्योंकि) उन्हें तृण तुल्य धन-सम्पत्ति उसी प्रकार रोक नहीं सकती जिस प्रकार कमलनाल की डोरी नये मद की धारा से श्यामल मस्तक वाले हाथियों को रोक नहीं सकती ॥ १७ ॥

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्त्तिमपहर्तुमसौ समर्थः ॥१८॥

अत्यधिक कुपित होने पर ब्रह्मा हंस का कमल वन में निवास और वहाँ का वैभव (मात्र) विनष्ट कर सकता है। पर वही (ब्रह्मा) उसके (हंस के) क्षीर-नीर विवेक वाले यश को अपहरण करने में समर्थ नहीं है ॥ १८ ॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला ।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजाः ॥
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते ।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥१९॥

केवल वाणी का अलङ्कार ही अलङ्कार है, अन्य सभी आभूषण तो सदा नष्ट हो जाते हैं। (क्योंकि) जो वाणी संस्कार के साथ धारण की जाती है वही पुरुष को आभूषित करती है। कंगन, चन्द्रमा के सदृश धवल मोतियों के हार, स्नान, चन्दन, सजे हुए केश आदि मनुष्य को अलंकृत नहीं कर पाते ॥ १९ ॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं ।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ॥
विद्या बंधुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं ।
विद्या राजसु पूजिता न हि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥२०॥

विद्या ही मनुष्य की बड़ी सुन्दरता है, वही उसका छिपा हुआ धन है; भोग, यश तथा सुख देने वाली है, गुरुओं की भी गुरु है। विद्या ही परदेश में बन्धु है, परम देवी है, और (वही) राजाओं के बीच पूजनीया है। (अतएव) विद्या-विहीन मनुष्य पशु ही है ॥२०॥

क्षांतिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां ।
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम् ॥
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि ।
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥२१॥

यदि मनुष्यों के पास क्षमा हो तो कवच की क्या ज़रूरत है, यदि क्रोध हो तो (दूसरे) शत्रु की क्या आवश्यकता ? यदि अपनी जाति के लोग हों तो आग की क्या ज़रूरत ? यदि मित्र हों तो अलौकिक दवाओं से क्या प्रयोजन ? दुष्टों से अधिक साँप क्या बिगाड़ सकते हैं ? जिसके पास निर्विकार विद्या है उसे धन से क्या मतलब ? और जिसमें लज्जा है उसे अन्य विभूषणों से क्या प्रयोजन ? (उसी प्रकार) जिसके पास अच्छी कविता है उसे राज्य से क्या प्रयोजन ॥२१॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने ।
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ॥
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता ।
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥२२॥

संसार में वे ही लोग श्रेष्ठ होते हैं जो स्वजनों के प्रति उदारता, सेवकों पर दया, दुष्टों से सदा दुष्टता, सज्जनों के साथ प्रेम व्यवहार, राजा के सामने नीति, विद्वानों के समक्ष सीधापन, दुश्मनों के साथ वीरता, गुरुजनों के आगे क्षमा याचना तथा स्त्रियों के विषय में धूर्तता आदि कलाओं में निपुण हैं ॥ २२ ॥

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं ।
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ॥
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं ।
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥२३॥

अच्छी संगति भला मनुष्यों के लिए क्या-क्या नहीं करती ? (क्योंकि) यह बुद्धि की जड़ता हर लेती है, वाणी में सत्य का संचार करती है, सम्मान की वृद्धि करती है, पाप को दूर करती है और चित्त को प्रसन्न करती है तथा दिशाओं में यश का प्रसार करती है ॥ २३ ॥

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥ २४ ॥

विजय उन्हीं सत्कर्म करने वाले तथा रस-परिपाक में सिद्धहस्त श्रेष्ठ कवियों की है जिनके कीर्तिरूपी शरीर को बुढापा या मृत्यु का भय नहीं होता ॥ २४ ॥

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः ।
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निष्क्लेशलेशं मनः ॥
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं ।
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिना ॥२५॥

स्वर्ग के स्वामी, अभीष्ट पूर्ति करने वाले भगवान हरि जिस पर प्रसन्न हों उसी मनुष्य के अच्छे चरित्र वाले पुत्र, पतिव्रता पत्नी, सदैव कृपा करने वाला स्वामी, स्नेह करने वाला मित्र, ऐसे परिजन जो ठगते नहीं, लेशमात्र भी कष्ट से विमुक्त मन, सुन्दर शरीर, निश्चल सम्पत्ति और विद्या से सुशोभित मुख प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं ।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ॥
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा ।
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पंथाः ॥२६॥

मनुष्यों की भलाई के रास्ते ये सब हैं—जीवहिंसा न करना, दूसरे के धन को चुराने से (अपने मन पर) संयम करना, सच बोलना, समय पर यथाशक्ति दान देना, दूसरे पुरुषों की स्त्रियों के विषय में चर्चा होने पर चुप रहना, लोभ के स्रोत का निवारण करना, अपने से बड़े लोगों के सामने विनीत रहना, सभी प्राणियों पर दया-भाव रखना और नित्य प्रति के कर्मों से विचलित न होना ॥ २६

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः ।
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ॥
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः ।
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥२७॥

नीच कोटि के लोग डर के मारे (किसी कार्य का) आरम्भ ही नहीं करते; मध्यम श्रेणी के लोग शुरू करके बाधाओं के पड़ने पर रुक जाते हैं (अर्थात् हताश होकर कार्य बन्द कर देते हैं); (परन्तु) विघ्नों से बार-बार आहत होने पर भी एक बार आरम्भ कर देने पर उत्तम कोटि के लोग कार्य नहीं छोड़ते ॥ २७ ॥

असंतो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ।
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ॥
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां ।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥२८॥

सज्जनों को इस तलवार की धार के सदृश कठिन व्रत का उपदेश किसने दिया कि वे दुर्जनों से कुछ माँगते नहीं, थोड़े धन वाले मित्र से भी याचना नहीं करते, उन्हें अपनी न्यायसंगत जीविका ही भली लगती है, उनके लिए प्राण जाने पर भी कुकर्म करना दुष्कर है, वे आपत्ति आने पर भी उच्चता का ही पालन करते हैं एवं महान् पुरुषों के आचरण का अनुगमन करते हैं ॥ २८ ॥

अथ मानशौर्यप्रशंसा

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥२९॥

मदान्ध गजराज के विदीर्ण मस्तक के मांस के ग्रास की कामना करने वाला सिंह, जो सम्मान के क्षेत्र में महान् लोगों के बीच सर्वप्रथम है, क्या सूखी घास खायेगा ? चाहे वह भूख के कारण कितना ही क्षीण, दुर्बल, शक्तिहीन, क्लेश से आहत, निस्तेज और मृतप्राय ही क्यों न हो गया हो (वह सूखी घास नहीं खा सकता) ॥ २९ ॥

स्वल्पं स्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गोः ।
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तास्य क्षुधाशान्तये ॥
सिंहो जंबुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं ।
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्वानुरूपं फलम् ॥३०॥

सभी लोग अपने अपने पुरुषार्थ के अनुसार फल की कामना करते हैं, चाहे वे कितने ही विपन्न क्यों न हों। (क्योंकि) कुत्ता बैल की चर्बी आदि से गन्दी तथा माँसहीन हाड़ को स्वल्प मात्रा में भी पाकर संतुष्ट हो जाता है, यद्यपि (उससे उसकी) भूख शांत नहीं होती। (परन्तु) शेर गोद में आये हुए सियार को छोड़कर हाथी का ही शिकार करता है ॥३०॥

लांगूलचालनमधश्चरणावपातं ।
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च ॥
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु ।
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुंक्ते ॥३१॥

कुत्ता भोजन देने वाले के सामने पूँछ हिलाता है, पैरों पर झुककर सर रख देता है और ज़मीन पर गिरकर पेट और मुँह दिखलाता है अर्थात् दीनता का आचरण करता है। (परन्तु) गजराज अपने आहार देने वाले (व्यक्ति) की ओर गम्भीरतापूर्वक देखता है और अनेक प्रकार से फुसलाए जाने पर ही भोजन करता है ॥ ३१ ॥

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥३२॥
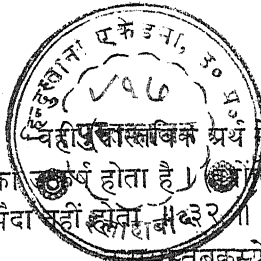
वही पुत्र (वास्तविक अर्थ में) उत्पन्न हुआ है जिसके जन्म लेने से वंश का उत्कर्ष होता है। (क्योंकि) परिवर्तनशील संसार में मरण के बाद कौन पैदा नहीं होता ॥३२॥

कुसुमस्तबकस्येव द्वे गती स्तो मनस्विनाम् ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्येत वनेऽथ वा ॥३३॥

श्रेष्ठ पुरुषों की फूल के गुच्छे के समान दो ही गति होती है। या तो (वे) सभी लोगों के सिर पर सुशोभित होंगे (अर्थात् पुष्प पक्ष में सिर का हार बनेंगे; मनस्वियों के पक्ष में मूर्द्धन्य बनेंगे), अथवा वन में सूख कर झर जायेंगे (पुष्प पक्ष में वन में ही समाप्त हो जायेंगे, श्रेष्ठ के पक्ष में वनवास धारण कर लेंगे) ॥ ३३ ॥

संत्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः संभाविताः पञ्चषा-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ॥
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भासुरौ ।
भ्रातः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषीकृतः ॥३४॥

हे भाइयो ! देखो, अमावस और पूर्णिमा को दानवों का स्वामी राहु जिसका केवल मस्तक मात्र शेष रह गया है, केवल दो ही (नक्षत्रों) चमकने वाले दिन के स्वामी सूर्य और रात्रि के प्राणेश चन्द्रमा को ही ग्रसता है। विशेष पराक्रम की कामना के कारण वह बृहस्पति आदि और भी पाँच-छः श्रेष्ठ ग्रहों के प्रति शत्रुता नहीं दिखलाता ॥३४॥

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां ।
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स विधार्यते ॥
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥३५॥

अहा ! महान् लोगों के आचरण के वैभव का कोई अन्त नहीं (क्योंकि) शेष नाग अपने चौदह भुवनों का भार धारण करते हैं, (और कच्छप जी अपनी पीठ पर उन शेष जी को (भी) सदैव धारण करते हैं । (और) समुद्र ने निरादर करके उन कच्छप जी को भी शंकर के अधीन कर दिया (ध्वनि यह है कि महान् लोग समुद्र की तरह होते हैं) ॥३५॥

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहलदहनोद्गारगुरुभिः ॥
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे ।
न चासौ संपातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥३६॥

मैनाक के लिए मदोन्मत्त इन्द्र द्वारा चलाए गए बज्र की जलती हुई आग की लपट के समान (भयंकर) प्रहार से पँखों का कट जाना अच्छा होता, (परन्तु) उसके लिए यह उचित नहीं था कि वह अपने पिता हिमालय को दुःख में छोड़कर समुद्र में कूद कर अपने पंख बचाता ॥३६॥

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकांतः ।
तत्तेजस्वो पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते ॥३७॥

तेजस्वी लोग दूसरों से किए गए अपमान कैसे सह सकते हैं (क्योंकि) सूर्यकान्त मणि जड़ होने पर भी सूर्य के (किरण रूपी) चरणों से छू जाने पर जल उठता है ॥३७॥

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥३८॥

सिंह का बच्चा भी मद से भीगे हुए गण्डस्थल वाले हाथियों पर ही प्रहार करता है (क्योंकि) तेजस्वी प्राणियों की यही प्रकृति ही है। निश्चय ही बल का कारण आयु नहीं है ॥३८॥

जातिर्यातु रसातलं गुणगणास्तस्याप्यधो गच्छता-
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना ॥
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं ।
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥३९॥

हमारे लिए तो केवल धन चाहिए जिस एक के बिना सभी गुण तिनके के टुकड़े के सदृश हैं—चाहे जात-पाँत रसातल में (क्यों न) जाय, अन्य गुणों का समूह और भी नीचे चला जाय, सदाचार पहाड़ से गिरकर विनष्ट हो जाय और चाहे वीरतारूपी शत्रु पर शीघ्र (ही) वज्र क्यों न पड़ जाय ॥३९॥

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥४०॥

यह अद्भुत रीति है कि धन की गरमी के बिना वही मनुष्य जिसकी सब इन्द्रियाँ वही हैं, वही व्यवहार (भी) है, वही प्रखर बुद्धि और वही वाणी है, क्षणमात्र में और ही हो जाता है ॥४०॥

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥४१॥

सभी गुण सुवर्ण में निवास करते हैं। (क्योंकि) जिसके पास धन है वही आदमी अच्छे कुल का है, वही विद्वान्, वही शास्त्रज्ञ और गुणों का पारखी है; वही भाषण देने में कुशल है और उसी का दर्शन करना चाहिए ॥४१॥

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ॥
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयान्
मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥४२॥

बुरे मन्त्रियों की सलाह से राजा नष्ट हो जाता है, (उसी प्रकार) भोग-विलास से तपस्वी, लाड़-प्यार से पुत्र, न पढ़ने से ब्राह्मण, कुपूत से वंश, दुष्टों की पूजा करने से सदाचार, मदिरापान से लज्जा, बिना निगरानी से खेती, परदेश में रहने से प्रीति, प्रेम के अभाव से मित्रता, अनीति से उन्नति और आलस्य के कारण अपव्यय करने से धन– ये सभी नष्ट हो जाते हैं ॥४२॥

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥४३॥

धन की तीन गतियाँ होती हैं–दान, उपयोग एवं विनाश। जो न दान करता है और न भोग करता है उसकी सम्पत्ति की तीसरी (अर्थात् विनाश वाली) गति होती है ॥४३॥

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो ।
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः ॥
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना ।
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः ॥४४॥

ये सभी चीजें (अपनी) कृशता में ही सुशोभित होती हैं–सान पर खरादी हुई मणि, तलवार से आहत युद्ध का विजेता, मदहीन हाथी, रेत के तटों वाली शरद ऋतु की नदी, दूज का चाँद तथा सम्भोग से क्लान्त नवयुवती ॥४४॥

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये ।
स पश्चात्संपूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम् ॥
अतश्चानैकान्त्याद्गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥४५॥

जब कोई गिरी हालत में रहता है तो वह पसर भर जौ की लालसा रखता है, वही (मनुष्य) बाद में (जब) सम्पन्न हो जाता है तो सारी पृथिवी को तृण तुल्य मानने लगता है। अतएव सम्पत्तिशाली व्यक्तियों की यह विषम अवस्था ही उनके कार्यों में गुरुता एवं लघुता द्वारा चीजों का विस्तार तथा संकोच करती है (अर्थात् उन्हें उत्थान तथा पतन दोनों की ओर ले जाती है)और उनके भाग्य में संवृद्धि अथवा गिरानी लाती है ॥४५॥

राजन्दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां ।
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ॥
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे ।
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥४६॥

स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणा : काञ्चनमाश्रयन्ति ॥४१॥

सभी गुण सुवर्ण में निवास करते हैं। (क्योंकि) जिसके पास धन है वही आदमी अच्छे कुल का है, वही विद्वान्, वही शास्त्रज्ञ और गुणों का पारखी है; वही भाषण देने में कुशल है और उसी का दर्शन करना चाहिए ॥४१॥

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ॥
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयान्
मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥४२॥

बुरे मन्त्रियों की सलाह से राजा नष्ट हो जाता है, (उसी प्रकार) भोग-विलास से तपस्वी, लाड़-प्यार से पुत्र, न पढ़ने से ब्राह्मण, कुपूत से वंश, दुष्टों की पूजा करने से सदाचार, मदिरापान से लज्जा, बिना निगरानी से खेती, परदेश में रहने से प्रीति, प्रेम के अभाव से मित्रता, अनीति से उन्नति और आलस्य के कारण अपव्यय करने से धन-- ये सभी नष्ट हो जाते हैं ॥४२॥

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥४३॥

धन की तीन गतियाँ होती हैं--दान, उपयोग एवं विनाश। जो न दान करता है और न भोग करता है उसकी सम्पत्ति की तीसरी (अर्थात् विनाश वाली) गति होती है ॥४३॥

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो ।
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः ॥
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना ।
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः ॥४४॥

ये सभी चीजें (अपनी) कृशता में ही सुशोभित होती हैं—सान पर खरादी हुई मणि, तलवार से आहत युद्ध का विजेता, मदहीन हाथी, रेत के तटों वाली शरद ऋतु की नदी, दूज का चाँद तथा सम्भोग से क्लान्त नवयुवती ॥४४॥

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये ।
स पश्चात्संपूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम् ॥
अतश्चानैकान्त्याद्गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥४५॥

जब कोई गिरी हालत में रहता है तो वह पसर भर जौ की लालसा रखता है, वही (मनुष्य) बाद में (जब) सम्पन्न हो जाता है तो सारी पृथिवी को तृण तुल्य मानने लगता है । अतएव सम्पत्तिशाली व्यक्तियों की यह विषम अवस्था ही उनके कार्यों में गुरुता एवं लघुता द्वारा चीजों का विस्तार तथा संकोच करती है (अर्थात् उन्हें उत्थान तथा पतन दोनों की ओर ले जाती है)और उनके भाग्य में संवृद्धि अथवा गिरानी लाती है ॥४५॥

राजन्दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां ।
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ॥
तस्मिश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे ।
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥४६॥

हे राजन् ! यदि (तुम) इस पृथिवी रूपी गाय को दुहना चाहते हो तो इस प्रजारूपी बछड़े का इस समय पालन-पोषण करो। (क्योंकि) उसी के समुचित रूप से निरन्तर पोषित होने पर पृथिवी कल्पलता की तरह नाना प्रकार के फलों से भरी पूरी रहेगी ॥ ४६ ॥

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च।
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ॥
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च।
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥४७॥

राजनीति वेश्या की तरह रूप बदलती रहती है, क्योंकि वह सच्ची और झूठी, कठोर और मृदुभाषिणी, हिंसापरक और दयालु, लोभी और दानशील, निरन्तर अपव्यय करने वाली और (वैसे ही) अत्यधिक धन का सञ्चय करने वाली बन जाती है ॥ ४७ ॥

विद्या कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च।
येषामेते षड् गुणा न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ॥४८॥

जिसके अन्दर विद्या, यश, ब्राह्मणों की रक्षा, दान तथा उपभोग, सुहृदजनों की सुरक्षा आदि छः गुण नहीं उदित हुए उसे राजा की परिचर्या से क्या लाभ ॥४८॥

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं।
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम् ॥

तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः ।
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥४६॥

चाहे थोड़ा चाहे बहुत, जितनी भी सम्पत्ति ब्रह्मा ने भाग्य में लिख दी है उतनी तो रेगिस्तान में भी मिल जाती है और उससे अधिक सुमेरु पर्वत पर भी नहीं मिलती । इसलिए धैर्य धारण करो, धनाढ्य लोगों के सामने व्यर्थ हाथ मत पसारो । (क्योंकि) देखो ! घड़ा कुएँ और सागर दोनों में से समान मात्रा में ही जल ग्रहण करता है ॥४६॥

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः ।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिः प्रतीक्ष्यते ॥५०॥

हे श्रेष्ठ घन ! यह किसे नहीं मालूम है कि तुम्हीं (मुझ) पपीहे के एक मात्र आश्रय हो ! (फिर) तुम मेरे दीनतापूर्ण वचनों (प्रार्थना) की प्रतीक्षा क्यों करते हो ? (अर्थात् तुम्हें बिना मेरे याचना किए ही मेरे अभीष्ट की तृप्ति करनी चाहिए ।) ॥५०॥

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः ॥
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा ।
यंयं पश्यसि तस्यतस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥५१॥

हे चातक, मेरे मित्र ! जरा ध्यान से (मेरी बात) एक पल सुन । आकाश में बादल तो बहुतेरे हैं, सब ऐसे (इच्छा पूर्ण करने में समर्थ) नहीं है । कुछ तो वर्षा से पृथिवी को भरी पूरी कर देते हैं, कुछ व्यर्थ गर्जन (मात्र) करते हैं । (इसलिए) जिसे-जिसे तू देखता है उन सभी के सामने दीनतापूर्ण याचना मत कर ॥५१॥

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परियोषिति च स्पृहा ।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ॥५२॥

दुष्टजनों में स्वभाव से ही क्रूरता, अकारण लड़ाई-झगड़ा, पराये धन और पर स्त्री का लोभ और अपने परिवार तथा मित्रों के विषय में सहन-शीलता का अभाव पाया जाता है ॥५२॥

अथ दुर्जन निन्दा

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यया भूषितोऽपि सन् ।
मणिनालंकृतः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥५३॥

विद्या से अलंकृत भी दुर्जन व्यक्ति का सर्वथा परित्याग करना चाहिए । (क्योंकि) मणि से भूषित साँप क्या भयावह नहीं होता ॥५३॥

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं ।
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ॥
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे ।
तत्कोनाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥५४॥

गुणवान लोगों का कौन ऐसा गुण है जिस पर दुर्जनों ने कलङ्क नहीं लगाया है ? (क्योंकि वे) लज्जाशील व्यक्ति को मूर्ख ठहराते हैं, (उसी) प्रकार) व्रत का आचरण करने वाले में दर्प देखते हैं, पवित्र जनों में छल कपट, वीर-पुरुष में क्रूरता, मुनि में बुद्धिहीनता, प्रिय भाषी में दीनता, ओजस्वी जनों में घमंड, वक्ता में वाचालता और स्थिर बुद्धि वालों में आलस्य देखते हैं ॥५४॥

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः ।
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ॥
सौजन्यं यदि किं गुणैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मंडनैः ।
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥५५॥

लोभ होने पर और अवगुणों से क्या (अर्थात् अन्य अवगुण इसके सामने फीके हैं) । (उसी प्रकार)कुटिलता रहने पर पापों से क्या ? सच्चाई रहने पर तप से क्या (प्रयोजन) ? मन पवित्र रहने पर तीर्थ का क्या अर्थ ? यदि सज्जनता हो तो अन्य गुणों से क्या (मतलब) ? यदि स्वाभिमान है तो आभूषण की क्या (जरूरत) ? यदि सच्चे अर्थ में विद्या है तो सम्पत्ति का क्या अर्थ और अगर बदनामी हो गई है तो मृत्यु क्या उससे बढ़ कर हो सकती है ॥५५॥

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी ।
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ॥
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो ।
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५६॥

ये सात काँटे मेरे मन में दुख उत्पन्न करते हैं— दिन में निस्तेज चन्द्रमा, विनष्ट यौवन वाली स्त्री, कमलविहीन तालाब, सुन्दर आकृति वाले व्यक्ति का निरक्षर मुख,धनवान कृपण, निरन्तर दुर्गति भोगता सदाचारी तथा राजसभा में आये हुये दुर्जन ॥ ५६ ॥

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥५७॥

ऐसे राजाओं का कोई आत्मीय जन नहीं हो सकता जिसका क्रोध प्रचण्ड होता है ; क्योंकि छू जाने पर अग्नि होम करने वाले को भी जला देती है । अर्थात् क्रोधी के सम्पर्क में आकर भलाई करने वाला भी दुःख का ही भागी होता है, जैसे अग्नि के जलाने वाले को अग्नि ही जला देती है । ॥ ५७ ॥

मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुको जल्पको वा ।
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः ।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥५८॥

सेवा कार्य अत्यन्त कठिन है, योगीजन भी इसका पार नहीं पाते । क्योंकि चुपचाप रहने पर सेवक गूँगा, बोलने पर बकवादी, नजदीक रहने पर धृष्ट, दूर रहने पर अकुशल, क्षमाशील होने पर कायर और असहिष्णु होने पर प्रायः बुरे परिवार का कहलाता है ॥ ५८ ॥

उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य
प्राग्जातविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ॥५९॥

ऐसे नीच (मनुष्य) के वश रहकर कौन सुख पा सकता है जो सभी दुष्टों को उभाड़ने वाला और निरंकुश है, जिसके पिछले जन्म के तुच्छ कर्मों का उदय हो रहा है; जिसने सौभाग्य से सम्पत्ति भी प्राप्त कर ली है (और) जो गुणों से वैर रखता है ॥५९॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खल सज्जनानाम् ॥६०॥

दुर्जनों की दोस्ती दोपहर के पहले की छाया की तरह शुरू में बहुत लम्बी होती है और फिर क्रमशः घटती जाती है और सज्जनों की मित्रता दोपहर के बाद की छाया की तरह पहले छोटी रहती है, फिर धीरे-धीरे बढ़ती जाती है ॥६०॥

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥६१॥

हिरन, मछली और सज्जन लोग तिनका (खाकर), जल (पीकर) और सन्तोष करके जीवन निर्वाह करते हैं। (परन्तु) बहेलिया, धीवर और कुटिल जन निष्प्रयोजन ही इन हिरनों, मछलियों और सज्जनों से संसार में द्वेष रखते हैं ॥६१॥

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता ।
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ॥
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥६२॥

ऐसे विमल गुणवाले पुरुषों को नमस्कार है जिनकी इच्छा सज्जनों से सम्पर्क रखने की रहती है, जिनकी दूसरों के गुण में प्रीति रहती है, जिनमें गुरुजनों के सामने नम्रता, विद्या में असक्ति, अपनी पत्नी ही से समागम, लोक निन्दा से डर, भगवान शङ्कर में भक्ति, आत्म संयम की क्षमता तथा दुर्जनों की संगति के परित्याग की भावना रहती है ॥६२॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥६३॥

महात्माओं में स्वभावतः ये गुण होते हैं-विपत्ति में धीरज, उत्कर्ष में क्षमा, सभा में बोलने का कौशल, युद्ध में वीरता, कीर्ति में अभिरुचि तथा शास्त्रों में आसक्ति ॥६३॥

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥६४॥

तलवार की धार के समान (कठिन) व्रत का सज्जनों को किसने उपदेश दिया ? जिसके कारण उनमें दान को गुप्त रखना, घर पर आए (अतिथि) का सत्कार करना, भलाई करके चुप रहना, दूसरों के उपकार को सभा के बीच कहना, सम्पदा पाकर घमंड न करना तथा दूसरों की चर्चा करते समय अनादर न करना (आ गया) ॥६४॥

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रयिणता ।
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ॥
हृदि स्वस्था वृत्तिः श्रुतिमधिगतैकव्रतफलं ।
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मंडनमिदम् ॥६५॥

वैभव न होने पर भी स्वभाव से महान् लोगों के यही आभूषण हैं— हाथ में प्रशंसनीय दान, गुरूजनों के चरणों पर झुकने वाला मस्तक, मुख में सत्य बचन, भुजाओं में प्रचुर बल, हृदय में पवित्रता तथा समस्त शास्त्रों का व्रत रखने वाले कान ।।६५।।

सपंत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ।। ६६ ।।

महात्माओं का मन ऐश्वर्य में कमल के सदृश कोमल और विपत्ति में पर्वत की दीर्घ शिला के सदृश कठोर रहता है ।।६६।।

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते ।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।।
स्वात्यां सागरशुक्तमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते ।
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणाः संसर्गतो देहिनाम् ।।६७।।

प्रायः मनुष्यों के निम्न, मध्यम तथा उत्तम कोटि के गुण सम्पर्क से ही उत्पन्न होते हैं (क्योंकि) जिस जल बिन्दु का तपते हुए लोहे पर पड़ने पर उसके नाम का भी नहीं पता चलता, वही कमल के पत्ते पर पड़ने से मोतियों की तरह विराजित होता है और (वही) स्वाति नक्षत्र में सागर की सीप में पड़ने पर मोती ही बन जाता है ।।६७।।

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यदे-
तत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ।।६८।।

संसार में ये तीन चीजें सत्कर्मियों को ही मिल पाती हैं—ऐसा पुत्र जो अपने सदाचार से पिता को प्रसन्न रखे, ऐसी पत्नी जो अपने पति का सदैव हित चाहे तथा ऐसा मित्र जो दुख-सुख में समान भाव रखे ॥६८॥

एको देवः केशवो वा शिवो वा
एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा ।
एको वासः पत्तने वा वने वा
एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ॥६९॥

देवता एक ही (होना चाहिए, अर्थात् पूजना चाहिए) केशव या शङ्कर जी, मित्र एक ही (होना चाहिए) राजा या तपस्वी, निवास एक ही होना नगर या वन, तथा स्त्री एक ही (ग्रहण करना चाहिए)—रूपवती नारी या गुफा ॥६९॥

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः ।
स्वार्थान्सम्पादयन्तो विततप्रियतरारम्भयत्नाः परार्थे ॥
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्जनान्दूषयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्यनाभ्यर्चनीयाः ॥७०॥

ऐसे विस्मयकारी आचरण करने वाले अत्यन्त सम्माननीयजन किसकी श्रद्धा के पात्र न होंगे जो नम्रता के कारण ऊँचे उठते हैं; दूसरों का गुणगान करके ही अपने गुणों की ख्याति करते हैं, निरन्तर अच्छी तरह दूसरों के लिए प्रयास करके ही अपने कार्य सिद्ध करते हैं और रूखे वचन बोलने वाले दुष्टों के मुख को अपनी क्षमा से ही मलिन कर देते हैं ॥७०॥

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥७१॥

धन-सम्पत्ति से अच्छे लोग उद्दण्ड नहीं होते (विनत हो जाते हैं) जिस प्रकार फलों के आ जाने से वृक्ष झुक जाते हैं और नए जल से अपूरित होने पर बादल ज़मीन की ओर झुक जाते हैं। (क्योंकि) परोपकार करने वालों की यही प्रकृति होती है ॥७१॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन ॥७२॥

दयालु जनों का शरीर परोपकार से न कि चन्दन से विराजित होता है। (ठीक वैसे ही जैसे) कान शास्त्र (सुनने)से न कि कुण्डल (धारण करने) से, हाथ दान (करने) से न कि कंगन(पहनने से (सुशोभित होता है) ॥७२॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटी करोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥७३॥

साधुजन अच्छे दोस्त के ये लक्षण बताते हैं—वह पाप से हटाता है, हित कार्य में संलग्न कराता है, छिपाने वाली बातों को गुप्त रखता है, गुणों को प्रकाशित है, विपत्ति में साथ नहीं छोड़ता और समय पड़ने पर (द्रव्यादि भी) देता है ॥७३॥

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहिते सुकृताभियोगाः ॥७४॥

साधु पुरुष स्वयं ही दूसरे के हित के लिए उद्यम करते हैं। (क्योंकि) सूर्य (बिना प्रार्थना के) कमल को खिला देता है तथा बादल भी बिना याचना किए ही पानी देता (बरसाता) है ॥७४॥

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये ।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ॥
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥७५॥

जो अपने स्वार्थ को छोड़कर दूसरे के कार्यों का सम्पादन करते हैं वे सत्पुरुष हैं, जो अपने स्वार्थ से न टकराने वाले परार्थ का पालन करते हैं वे साधारण कोटि के (व्यक्ति) हैं; जो अपने हित के लिए दूसरों का बुरा करते हैं वे मनुष्यरूप में दानव हैं; (परन्तु) जो बिना मतलब ही दूसरों के हित का हनन करते हैं उन्हें क्या कहा जाय यह मैं नहीं जानता ॥७५॥

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः ।
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः ॥
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्दृष्ट्वा तु मित्रापदं ।
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्रीपुनस्त्वीदृशी ॥७६॥

सत्पुरुषों की मित्रता तो फिर ऐसी ही होती है (जैसी दूध और पानी की) (क्योंकि) दूध ने जल से मिलने पर अपने सभी गुण उसे दे दिये। दूध को जलता देखकर जल ने अपने शरीर को आग में हवन कर दिया (अर्थात् दूध के साथ पानी जल गया), (फिर) दूध ने भी अपने मित्र (जल) को दुःख में देखकर आग में गिरना चाहा, (और फिर) यह उचित ही था कि (छींटे पड़ने पर अपने मित्र) जल से (उसे आया जानकर दूध) शान्त हो गया ॥७६॥

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनः शिखरिणां गणाः शेरते ।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्त संवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥७७॥

अहो, समुद्र का शरीर अत्यन्त विशाल तथा भार सहने में समर्थ है। (क्योंकि समुद्र में) एक तरफ विष्णु सोते हैं, एक तरफ उनके (विष्णु) बैरी राक्षसों का कुल सोता है, एक ओर शरण चाहने वाले पर्वतों का समूह पड़ा है और फिर एक ओर प्रलयङ्कर बड़वानल है (अर्थात् समुद्रकी तरह सत्पुरुष भी सहनशील तथा विशाल हृदय वाले होते हैं) ॥७७॥

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं माकृथाः ।
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम् ॥
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान्गुणा-
न्कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥७८॥

लालचको छोड़ो, क्षमा का पालन करो, घमंड को त्याग दो, पाप में आसक्ति मत करो, सच बोलो, सज्जनों का आचरण अपनाओ, विद्वान् पुरुषों की सेवा करो, मानवीय लोगों का सम्मान करो, वैरियों से भी अनुनय-विनय करो, अपने गुणों को प्रकाशित करो, अपने यश की रक्षा करो, (तथा) विपक्षी जनों पर दया रखो। (क्योंकि) यही सज्जनों का लक्षण है ॥७८॥

मनसि वचसि कायेे पुण्यपीयूष पूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकार श्रेणिभिः प्रीयणन्त : ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥७९॥

ऐसे कितने सज्जन हैं (जिनका) मन, वचन और शरीर सत्कर्म रूपी अमृत से आपूरित है, जो तीनों लोकों को उपकारों से प्रसन्न रखते हैं तथा नित्य दूसरों के परमाणु (स्वल्प) गुणों को पहाड़ सा बड़ा मानकर अपने मन में प्रफुल्लित होते हैं ॥७९॥

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव ।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कंकोलनिंबकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥८०॥

(हमें) उस स्वर्ग के सुमेरु और चांदी के कैलास पर्वतों से क्या (प्रयोजन) जिसके सहारे रहने वाले पेड़ पेड़ ही रह जाते हैं? हम तो मलयाचल (की ही प्रभुता) को मानते हैं जिसके आश्रित कंकोल, नीम तथा कुटज (आदि सभी वृक्ष) चन्दन हो जाते हैं ॥८०॥

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥८१॥

धैर्यवान् अपने निश्चित फल को बिना प्राप्त किए रुकते नहीं। (क्योंकि) अत्यधिक मूल्य वाले रत्न पाकर (भी) देवताओं ने संतोष नहीं किया (और) न भयावह विष से ही वे डरे। बिना अमृत पाए (देवताओं) ने विश्राम नहीं किया ॥८१॥

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनं ।
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचि : ॥
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो ।
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥८२॥

मनस्वी तथा सफलता चाहने वाले व्यक्ति न दुःख और न सुख की परवाह करते हैं। (वे) कभी ज़मीन पर (ही) सो लेते हैं, कभी पलंग पर शयन करते हैं; कभी साग खाकर ही रहते हैं; कभी चावल आदि का भोग करते हैं; कभी कथरी ही धारण कर लेते हैं और कभी शानदार वस्त्र पहनते हैं ॥८२॥

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो ।
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ॥
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता ।
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥८३॥

सभी गुणों का अलङ्कार और मूल सदाचार है। (वैसे) वैभव का भूषण सज्जनता, वीरता का वाणी पर नियन्त्रण, ज्ञान का शान्ति, शास्त्र (अध्ययन) का विनय, धन का योग्य स्थान पर व्यय, तपस्या का क्रोधाभाव, स्वामित्व का क्षमा (तथा) धर्म का निश्छल होना है ॥८३॥

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥८४॥

धैर्यवान् पुरुष उचित मार्ग से पग नहीं हटाते चाहे नीतिज्ञ (उनकी) निन्दा करें या प्रशस्ति; चाहे लक्ष्मी (धन) पर्याप्त रूप में आये या चली जाय; (और) चाहे (उनकी) मृत्यु आज ही हो अथवा युगान्तर में ॥८४॥

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा ।
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ॥
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा ।
लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् ॥८५॥

हे पुरुषो ! देखो, मनुष्यों के उत्थान-पतन में भाग्य ही कारण है। (क्योंकि) निराश और पिटारे में पड़े रहने से पीड़ित शरीर वाले तथा भूख से शिथिल इन्द्रियों वाले साँप के मुख में रात्रि को पिटारे में छेद करके एक चूहा गिर पड़ा। उस (चूहे) के मास से संतृप्त होकर वह (साँप) शीघ्र ही उसी (छेद) के रास्ते से बाहर चला गया ॥८५॥

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः ।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ॥८६॥

सदाचारी लोगों की मुसीबतें स्थायी नहीं होतीं। वे क्षणभंगुर होती हैं (क्योंकि) हाथ से पटका हुआ गेंद ऊपर ही उछलता है ॥८६॥

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥८७॥

मनुष्यों के शरीर में स्थित आलस्य (उसका) बड़ा भारी दुश्मन है। (और) उद्योग के समान (दूसरा कोई) बन्धु नहीं, जिसे अपना लेने से दुःख नहीं होता ॥८७॥

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।
इति विमृशंतः सन्तः संतप्यन्ते न विप्लुता लोके ॥८८॥

संसार में वे महात्मा विपत्ति पड़ने पर सन्तप्त नहीं होते (जो) इस प्रकार की समझ रखते हैं कि काटा हुआ वृक्ष फिर उग जाता है (और) क्षीण हुआ भी चाँद फिर विकसित होता है ॥८८॥

अथ दैव प्रशंसा

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः ।
स्वर्गो दुर्गमनिग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः ॥
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलिभिर्भग्नः परैः संगरे ।
तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥८९॥

भाग्य का ही शरण अच्छा है, पौरुष व्यर्थ है, पुरुषार्थ को धिक्कार है; (क्योंकि) ऐसा इन्द्र धन तथा बल होने पर भी शत्रुओं से युद्ध में हारता ही रहा जिसके पास बृहस्पति सरीखे नेता, वज्र जैसा अस्त्र, देवताओं की सेना, स्वर्ग जैसा गढ़, ऐरावत सरीखा हाथी और भगवान कृष्ण की पूरी कृपा रहती थी ॥८९॥

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥९०॥

(यद्यपि) मनुष्यों के कर्म के अधीन (ही) फल होता है (और) बुद्धि (भी) कर्म के अनुकूल होती है, तथापि बुद्धिमानों को खूब सोच-विचार कर कार्य करना चाहिए ॥९०॥

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः संतापितो मस्तके ।
वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ॥
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः ।
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यांत्यापदः ॥९१॥

प्रायः जहाँ-जहाँ भाग्यहीन (व्यक्ति) जाता है वहीं-वहीं विपत्तियाँ जाती हैं। (उदाहरण स्वरूप) सूर्य की रश्मियों से सिर के संतप्त होने पर एक गंजा (व्यक्ति) छाया की इच्छा करता हुआ भाग्यवश ताल (के पेड़) की जड़ के पास गया। वहां भी उसके सर पर एक बड़ा भारी फल गिर पड़ा (और उसका सर) बड़ी आवाज़ के साथ टूट गया ॥९१॥

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः॥९२॥

चाँद और सूरज को ग्रह से पीड़ित, हाथी और साँप को बन्धन में (बंधा हुआ) तथा बुद्धिमान व्यक्तियों को दीन देखकर मेरा तो यही मत है कि भाग्य ही बलवान् है ॥९२॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः ।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥९३॥

अरे! यह दुःख की बात है और ब्रह्मा की मूर्खता (दिखाती) है कि (वह पहले तो) समस्त गुणों के कोश रूप पुरुषरत्न की उत्पत्ति करता है, तब भी उसे क्षणभंगुर बना देता है ॥९३॥

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं ।
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ॥
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम् ।
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥६४॥

भाग्य ने पहले ही जो ललाट में लिख दिया उसे मिटाने में कौन समर्थ है ? (क्योंकि)यदि करीर नामक वृक्ष में पत्ते नहीं आते तो (इसमें) मधुमास का क्या दोष; यदि दिन में भी उल्लू नहीं देख पाता तो (इसमें) सूर्य का क्या दोष; (और) अगर चातक के मुंह में जल की धाराएं नहीं गिरतीं तो (इसमें) बादल का क्या दोष ॥६४॥

अथ कर्मप्रशंसा

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किं च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यःप्रभवति ॥६५॥

हम देवताओं को प्रणाम करते हैं, (परन्तु) वे भी भाग्य के वश में हैं। (अतएव) विधाता (ही) वन्दनीय है। (पर) वह भी पूर्व निश्चित कर्म के अनुसार फल देता है। फल (तो) कर्म के अधीन है; देवताओं और भाग्य से क्या (प्रयोजन) ? (अतः) कर्म को नमस्कार है जिससे भाग्य भी पार नहीं पाता ॥६५॥

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे ।
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ॥

रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः ।
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मैः नमः कर्मणे ॥६६॥

उस कर्म को नमस्कार है जिसने ब्रह्मा को कुम्हार की तरह निरन्तर ब्रह्माण्ड-रचना में प्रवृत्त किया, जिसने विष्णु को बार-बार दस अवतार लेने की आफ़त में डाल दिया, जिसने रुद्रस्वरूप शङ्कर को हाथ में कपाल लेकर भीख माँगने के लिए बाध्य किया और जिसने सूर्य को नभ में सदैव भ्रमण करने पर विवश किया ॥६६॥

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं,
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि,
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥६७॥

पहले की तपस्या से उपार्जित भाग्य ही समयानुकूल मनुष्य को वृक्ष की तरह फल देता है। पुरुष को न तो रूप, न परिवार, न सदाचार, न विद्या और न यत्नपूर्वक की गई सेवा ही फल देती है ॥६७॥

वने रणे शत्रु जलाग्निमध्ये
महार्णवे पर्वत मस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥६८॥

पूर्व जन्म में किये गये सत्कर्म ही वन में, युद्ध में, शत्रु, पानी और आग के बीच में, महासागर में अथवा पहाड़ की चोटी पर, असावधानी से सोने में अथवा विकट स्थिति में (पुरुष की) रक्षा करते हैं ॥६८॥

या साधूंश्च खलान्करोतिविदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः ।
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ॥
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितम् ।
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥९९॥

हे सज्जन ! यदि अभीष्ट फल का भोग करना चाहते तो उस भगवती सत्क्रिया की पूजा करो जो दुष्टों को साधु बना देती है और मूर्खों को विद्वान् , शत्रुओं को मित्र, अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष और ज़हर को अमृत बना देती है। कष्टों से पूर्ण बहुत सारे गुणों में व्यर्थ विश्वास मत करो ॥९९।

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ॥
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१००॥

बिना-सोचे विचारे बहुत जल्दी में किए गये काम का फल मृत्यु पर्यन्त हृदय को कांटे के समान सन्तप्त करता है। (अतएव) कर्मठ बुद्धिमान् व्यक्ति को कार्य के शुरू में (ही) परिणाम का विचार यत्नपूर्वक कर लेना चाहिए, चाहे (वह कार्य) उपयोगी हो या अनुपयोगी ॥१००॥

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति च लशुनं चांदनैरिन्धनौघैः ।
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः ॥
छित्त्वा कर्पूरखण्डान्वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समंता-
त्प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मंदभाग्यः ॥१०१॥

इस कर्मभूमि (संसार) में आकर जो अभागा तपस्या (साधना) नहीं करता वह मानो मरकत मणि के पात्र में लहसुन को चन्दन की लकड़ी से पकाता है, सोने के हल से खेत को आक के पौधे के लिए जोतता है, (और कोदो (एक निम्न कोटि का खाद्यान्न) के चारो ओर कपूर के टुकड़े काटकर घेरा बनाता है ॥१०१॥

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं
शत्रून्जयत्वाहवे ।
वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकला
विद्याः कलाः शिक्षतु ॥
आकाशं विपुल प्रयातु खगवत्
कृत्वा प्रयत्नं परं ।
नाभाव्यं भवतीहकर्मवशतो
भाव्यस्य नाशः कुतः ॥१०२॥

इस संसार में अनहोनी बात नहीं होती, (और) कर्म के अधीन जो होना ही है उसका अन्त (भी) कहाँ? चाहे (कर्मगति को टालने के लिए) जल में डूब जाओ, या सुमेरु की चोटी पर चढ़ो, या युद्ध में दुश्मनों को जीत लो, या व्यापार, खेती और सेवा-कार्यादि सभी विद्याओं और कलाओं को सीख लो (और) चाहे विस्तृत आकाश में चिड़ियों की तरह बड़े आयास से विचरण करो ॥१०२॥

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं ।
सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ॥
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा ।
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१०३॥

जिस व्यक्ति के पास पूर्व जन्म का बहुत सा पुण्य हो उसके लिए भयङ्कर जंगल अच्छा नगर बन जाता है, सभी लोग उसके सुहृद् हो जाते हैं तथा उसके पास की सारी पृथिवी रत्नों से भरी-पूरी हो जाती है ॥१०३॥

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं-
प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः ।
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता
का धर्मतत्वे रतिः ॥
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा
कानुव्रता किं धनं ।
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं
राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥१०४॥

लाभ किस में है ? गुणी लोगों के सम्पर्क में। दुःख क्या है ? मूर्खों का साथ। हानि क्या है ? वक्त पर चूक जाना ! दक्षता क्या है ! धर्म में आसक्ति। शूरवीर कौन है ? इन्द्रियों पर विजय पाने वाला। प्रेयसी कौन है ? अपने अनुकूल रहने वाली। धन क्या है ? विद्या। सुख क्या है ? परदेश न जाना। राज्य क्या है ? अपनी हुकूमत ॥१०४॥

मालतीकुसुमस्येव द्वे गतीह मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥१०५॥

इस संसार में मनस्वी जनों की मालती पुष्प के सदृश दो गतियाँ होती हैं—या तो सब लोगों के मस्तक पर अथवा जंगल में ही बिखर जाना

(अर्थात् मनस्वी लोग या तो संसार में यश की पराकाष्ठा पर रहेंगे या फिर वनवास ग्रहण करेंगे) ॥१०५॥

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः ।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मंडिता वसुधा ॥१०६॥

पृथिवी ऐसे लोगों से कहीं-कहीं (बहुत कम) अलंकृत होती है (जो) कटु वचन बोलने में दरिद्र, अपनी पत्नी से (ही) तृप्त, (तथा) पर-निन्दा करने में अनासक्त होते हैं ॥१०६॥

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते-
र्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ॥
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने-
र्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥१०७॥

दुःख में पड़ने पर भी धैर्यवान् पुरुष की धीरता को (कोई) दूर नहीं कर सकता । (क्योंकि) अधोमुख होने पर भी आग की लपट नीचे नहीं जाती ॥१०७॥

कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य ।
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ॥
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥१०८॥

तीनों लोकों को जीतने वाला (वास्तविक अर्थ में) धैर्यवान् पुरुष वह है जिसके मन को कामिनियों के कटाक्षरूपी तीर बेधते नहीं; जिसके

चित्त को क्रोधरूपी अग्नि की आँच जलाती नहीं, (और) जिसको लोभ के फन्दे से कभी भोग-विलास खींच नहीं पाते ॥१०८॥

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम् ॥
क्रियते भास्करेणेव परिस्फुरिततेजसा ॥१०९॥

जैसे अकेला सूर्य (सारे संसार में) प्रकाश प्रस्फुटित कर देता है, (वैसे ही) अकेला योद्धा सारी पृथिवी को अपने पैरों के नीचे (अधीन) कर लेता है ॥१०९॥

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः
कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः
सद्यः कुरङ्गायते ॥
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः
पीयूषवर्षायते ।
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं
शीलं समुन्मीलति ॥११०॥

जिस मनुष्य के अङ्ग में (व्यक्तित्व में) सारे संसार को अच्छा लगने वाला सदाचार प्रस्फुटित होता है उसके लिए आग (भी) पानी बन जाता है, सुमेरु पर्वत छोटी शिला का रूप धारण कर लेता है, शेर तुरन्त हिरन बन जाता है, (तथा) ज़हर अमृत की वर्षा की तरह हो जाता है ॥११०॥

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम् ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥१११॥

तेजस्वी तथा सच्चाई का व्रत धारण करने वाले पुरुष प्राण आसानी से दे देते हैं पर लज्जा आदि गुणों के समूह को पैदा करने वाली, अपनी माँ की तरह शुद्ध हृदय वाली और अपने अधीन रहने वाली प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते ॥१११॥

शृङ्गारशतकम्
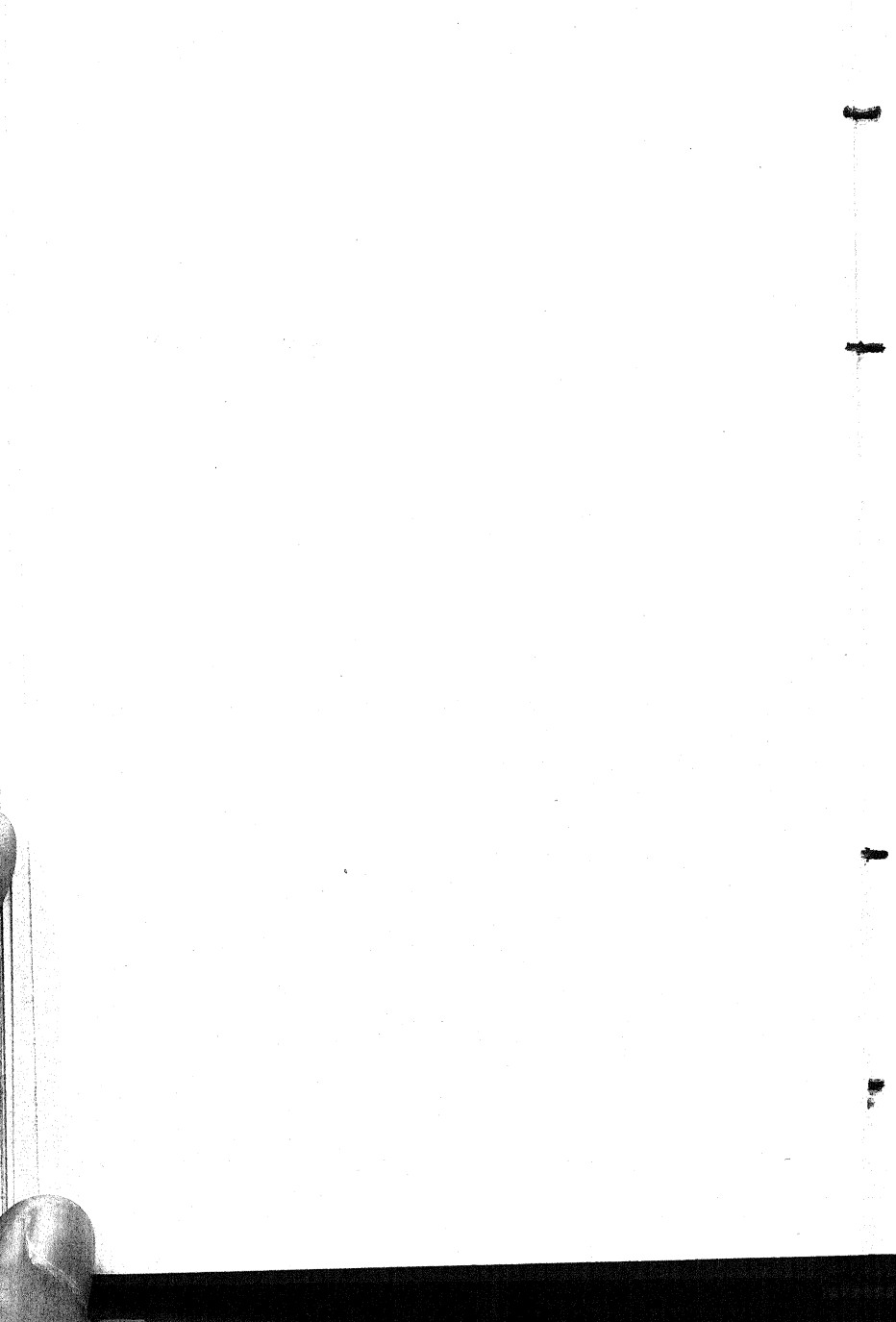
मंगलाचरणम्

शम्भुस्त्रयंभुहरयो हरिणेक्षणानां
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥१॥

उन पुष्पायुध भगवान कामदेव को नमस्कार है जिसने शिव, ब्रह्म-और विष्णु को (भी) स्त्रियों के कार्य—अर्थात् सृष्टि, पालन-पोषण आदि—करने के लिए निरन्तर दास बना रखा है और जिसका चरित्र (कार्य-कलाप) अनिर्वचनीय होने के कारण विलक्षण है ॥१॥

स्मितेन भावेन च लज्जयाभिया
पराङ् मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षणैः ।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया
समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥२॥

मन्द-मन्द मुसकाना, शर्माना, भयभीत होना, मुख फेर लेना, अर्द्ध कटाक्ष से देखना (अर्थात् कनखियों से देखना), मधुर वचन बोलना, ईर्ष्या-

द्वेष के कारण कलह करना और अनेक प्रकार के अभिनय करना (लोक-भाषा में, नख़रे करना)—इन सभी भाव-भङ्गिमाओं के प्रदर्शन के कारण स्त्रियाँ निश्चय ही बन्धन स्वरूप होती हैं ॥२॥

भ्रूचातुर्याकुञ्चिताक्षाः कटाक्षाः
स्निग्धा वाचो लज्जिताश्चैव हासाः ।
लीलामन्दं च स्थितं प्रस्थितं च
स्त्रीणामेतद्भूषणं चायुधं च ॥३॥

भौहें फेरने की कुशलता के कारण खिंचे हुए नेत्रों से कटाक्ष करना, स्नेहपूर्ण बातें करना, शरमा कर हँसना, केलि करते हुए मन्द-मन्द चलना, झट रुक जाना और झट चल पड़ना—यही स्त्रियों के अलङ्कार भी हैं और यही शस्त्र भी हैं। (अर्थात् इन्हीं भावों से स्त्रियाँ पुरुषों को आकर्षित करती हैं और इन्हीं से उनका शिकार भी करती हैं) ॥३॥

क्वचित्सुभ्रूभंगैः क्वचिदपि च लज्जापरिणतैः
क्वचिद्भीतित्रस्तैः क्वचिदपि च लीलाविलसितैः ।
नवोढानामेभिर्वदनकमलैर्नेत्रचलितैः
स्फुरन्नीलाब्जानां प्रकरपरिपूर्णा इव दृशः ॥४॥

नवविवाहित स्त्रियों के मुखकमल में स्थित (भ्रमर रूपी) नेत्र, जो कभी भौंहों से कटाक्ष करते हैं, कभी लज्जा से विलसित होते हैं, कभी भय-भीत रहते हैं और कभी लीला से ही विलासों को धारण करते हैं, नील कमल के समूह-से प्रतीत होते हैं ॥४॥

वक्त्रं चन्द्रविकासि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने ।
वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णुः कचानाञ्चयः ॥

वक्षोजाविभकुम्भसंभ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली ।
वाचां हारि च मार्द्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम् ।।५।।

चन्द्रमा को फीका करने वाला मुख, कमल का उपहास करने में समर्थ नेत्र, स्वर्ण की कान्ति को मन्द करने वाला रूप, भ्रमर-पुञ्ज को जीतने वाले केश, गजमस्तक की शोभा हरने वाले कुच-कुम्भ और विशाल भारी नितम्ब तथा मन को हरने वाली कोमल वाणी--ये सब युवतियों के स्वाभाविक भूषण हैं ।।५।।

स्मितं किञ्चिद्वक्त्रे सरलतरलो दृष्टिविभवः ।
परिष्यन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।।
गतीनामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः ।
स्पृशंत्यास्तारुण्यं किमिह न हि रम्यं मृगदृशः ।।६।।

यौवन आते ही मृगनयनी स्त्रियों में क्या-क्या हाव-भाव नहीं उत्पन्न होते—मुख में मन्द-मन्द मुसकान, सीधे और चञ्चल नेत्रों में केलि, नयी-नयी विलास भरी उक्तियों में रसपेशल बातें, नये कमल-पत्र के समान मृदु और लीलाभरी गति—सभी आ जाते हैं ।।६।।

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशां प्रेमप्रसन्नं मुखं ।
घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यपवनः श्राव्येषु किं तद्वचः ।।
किं स्वाद्येषु तदोष्ठपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तत्तनु-
र्ध्येयं किं नवयौवनं सुहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमः ।।७।।

रसिकों के लिए (इन्द्रियजन्य सुखों में) उत्तम क्या-क्या हैं? देखने योग्य वस्तुओं में मृगनयनी (स्त्रियों अथवा नायिकाओं) का प्रेम से प्रफुल्लित

मुख, सूँघने की वस्तुओं में उनका उच्छ्वास, सुनने की वस्तुओं में उनकी वाणी, स्वाद लेने योग्य वस्तुओं में उनके अधरपल्लवों का रस, स्पर्श की वस्तुओं में उनका शरीर और ध्यान करने योग्य वस्तुओं में उनका यौवन और सतत विलास ॥७॥

एताः स्खलद्वलयसंहतिमेखलोत्थ-
झंकारनूपुररवाहृत राजहंस्यः ।
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः ॥८॥

ऐसी युवतियाँ भयभीत और मुग्ध हरिणी के समान कटाक्ष करके किस का मन नहीं हर लेतीं, जिनके चञ्चल कङ्कणों के शब्द, क्षुद्रघण्टिका की ध्वनि और नूपुर के झंकार ने राजहंसिनियों की चाल जीत ली है ॥८॥

कुंकुमपंककलंकितदेहा गौरपयोधरकम्पितहारा ।
नूपुरहंसरणत्पदपद्मा कं न वशीकुरुते भुवि रामा ॥९॥

ऐसी सुन्दरी पृथिवी पर किसको अपने वश में नहीं कर लेती जिसका शरीर केशर और चन्दन के लेप से सुशोभित है, जिसके गौर उरोजों पर हार विलसित होता है और जिसके चरणकमलों के नूपुर राजहंस के सदृश ध्वनि करते हैं ॥९॥

नूनं हि ते कविवरा विपरीत बोधा
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम् ।
याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ॥१०॥

वे कविशिरोमणि निश्चय ही उल्टी बुद्धि वाले हैं जिन्होंने स्त्रियों को सदैव अबला कहा है। वे भला अबला कैसे हैं जिनकी चञ्चल पुतलियों के कटाक्ष से इन्द्रादि भी हार मानते हैं ॥१०॥

नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः ।
यतस्तन्नेत्रसंचारसूचितेषु प्रवर्तते ॥११॥

कामदेव निश्चय ही उनका (स्त्री का) आज्ञाकारी सेवक है, क्योंकि जिस पर वे आँखों से इशारा कर देती हैं उसी को वह (कामदेव) वश में कर लेता है ॥११॥

केशाः संयमिनः श्रुतेरपि परं पारं गते लोचने ।
अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गणैः ॥
मुक्तानां सतताधिवासरुचिरं वक्षोजकुम्भद्वय-
मित्थं तन्वि वपुः प्रशांतमपि ते क्षोभं करोत्येव नः ॥१२॥

हे तन्वंगी ! तेरा शरीर शान्तस्वरूप होने पर भी मुझ में तो अनुराग ही उत्पन्न करता है, (क्योंकि तेरे) केश संयमित हैं (श्लिष्ट अर्थ—संयम का पालन करते हैं); नेत्र (विशाल होने के कारण) कानों को पार कर गये हैं (श्लिष्ट अर्थ—'श्रुति' अर्थात् वेदादि में पारङ्गत हैं); प्रकृततः पवित्र दन्त-पंक्ति से मुख का आन्तरिक भाग व्याप्त है (श्लिष्ट अर्थ—स्वभाव से पवित्र 'द्विजानां' अर्थात् ब्राह्मणों के समूह से व्याप्त है); दोनों स्तन-कलश मोतियों के निरन्तर पास रहने से सुशोभित होते हैं (श्लिष्ट अर्थ—'मुक्तानां' अर्थात् मुक्त या विरक्त जनों के निरन्तर पास रहने से सुशोभित होता है) ॥१२॥

मुग्धे धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यथा हरसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ॥१३॥

हे सुन्दरी ! तेरी यह धनुर्विद्या में कुशलता कैसी अद्भुत दीख पड़ती है जो मन को गुणों से (अर्थात् (१) चारित्रिक विशेषताओं से अथवा (२) प्रत्यञ्चा से) ही बींध देती है (बाण की आवश्यकता नहीं पड़ती) ॥१३॥

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु ।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत् ॥१४॥

दीपक, अग्नि, तारे, सूर्य और चन्द्रमा—इन सब के होने पर भी एक मृगनयनी स्त्री बिना यह संसार मेरे लिए अन्धकार स्वरूप है ॥१४॥

यद्वृत्तः स्तनभार एष तरले नेत्रे चले भ्रूलते ।
रागान्धेषु तदोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नाम व्यथाम् ॥
सौभाग्याक्षरपङ्क्तिरेव लिखिता पुष्पायुधेन स्वयं ।
मध्यस्थापि करोति तापमधिकं रोमावली केन सा ॥१५॥

यह तुम्हारे वर्त्तुलाकार स्तनों का भार, चञ्चल नयन, चपल भ्रूलता, यह अधरपल्लव आदि प्रेमान्ध जनों को पीड़ा दें तो दें, क्योंकि कामदेव के हाथ की लिखी (तेरे मस्तक में) सौभाग्य के अक्षरों की पंक्ति ही है; परन्तु मध्यस्थ रोमपंक्ति जो अधिक सन्ताप देती है, वह क्यों ?(व्यंग्यार्थ—उन्नत, चञ्चल तथा रागयुक्त वस्तुएं जो व्यथा देती हैं वह तो संगत ही है, परन्तु 'मध्यस्थ'—अर्थात् जिनका कार्य कलहादिजनित दुःख से निवारण करना है वह जो सन्ताप देता है सो विपरीत है) ॥१५॥

गुरुणा स्तनभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता ।
शनैश्चराभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा ॥१६॥

वह (स्त्री) ऐसी सुशोभित होती है मानो वह ग्रहों से युक्त हो, क्योंकि उरोजों के भार के कारण वह 'गुरु' के सदृश है (साधारण अर्थ में, उसके

कुच-कुम्भ अत्यन्त कठोर तथा भारी हैं, श्लिष्ट अर्थ में, वह बृहस्पति के के समान है); दीप्तिमान मुख के कारण वह चन्द्रमा जैसी है (साधारण अर्थ में, उसका मुख चन्द्रमा के समान है, श्लिष्ट अर्थ में, वह चन्द्रमा नामक ग्रह से सुशोभित है) तथा मन्दगामी चरणों के कारण वह शनि नामक ग्रह के सदृश है ॥१६॥

तस्याः स्तनौ यदि घनौ जघनं विहारि ।
वक्त्रं च चारु तव चित्त किमाकुलत्वम्॥
पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वाञ्छा ।
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ॥१७॥

यदि उसके (कामिनी के) उरोज कठोर हैं, यदि उसका जघन-प्रदेश रमणीय और उसका मुख सुन्दर है तो (उन्हें देखकर) हे मन ! तू व्याकुल क्यों होता है ? यदि तेरी उनमें आसक्ति है तो पुण्य-कर्मों का अनुसरण कर, क्योंकि बिना पुण्य के अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती ॥१७॥

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्य-
मार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणा
मुतस्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥१८॥

हे सज्जनो ! मत्सर से मुक्त होकर तथा मर्यादा का ध्यान रखते हुए विचारपूर्वक यह बताइये कि पर्वतों के ही नितम्ब (मध्य भाग) सेवन करने योग्य हैं (अर्थात् वैराग्य धारण करना ही श्रेयस्कर है) अथवा काम-देव के हाव-भाव से मुसकराती हुई कामिनियों के नितम्ब ही उपभोग्य हैं (अर्थात् प्रेम-शृङ्गार का ही मार्ग अच्छा है) ॥१८॥

संसारेऽस्मिन्नसारे परिणतितरले द्वे गती पण्डितानाम् ।
तत्त्वज्ञानामृताम्भःकृतललितधियां यातु कालः कदाचित् ॥
नो चेन्मुग्धाङ्गनानां स्तनजघनभराभोगसंभोगिनीनाम् ।
स्थूलोपस्थस्थलीषु स्थगितकरतलस्पर्शलीलोद्यतानाम् ॥१६॥

बुद्धिमान पुरुषों के लिए ऐसे सारहीन जगत में, जिसकी अन्तिम अवस्था (पराकाष्ठा) अनिश्चित है, केवल दो रास्ते हैं—या तो उनका समय अच्छी तरह व्यतीत होता है जिनकी बुद्धि सत्यानुशीलनरूपी अमृत रस में विलास करती है, और या तो उनका समय अच्छी तरह बीतता है जो सुभग उरोजों और जंघों से भरपूर समागम करने वाली रमणीय कामिनियों के साथ, उनके शरीर का अपने हाथों से स्पर्श करते हुए, केलि-विलास में तत्पर रहते हैं ॥१६॥

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैः शिरोरुहैः ।
पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां रेजे रत्नमयीव सा ॥२०॥

वह (युवती) ऐसी जान पड़ती है मानो मणियों से जड़ी हुई हो, क्योंकि उसका मुख चन्द्रकान्त मणि जैसा है, उसके केश महानील मणि जैसे हैं और उसकी बाँहें पद्मराग नामक मणि के सदृश हैं ॥२०॥

संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥२१॥

स्त्रियाँ मनुष्यों के संवेदनाशील हृदय में प्रवेश करके क्या-क्या नहीं कर डालतीं ? वे उन्हें (कभी) मुग्ध कर देती हैं, (कभी) मदमत्त कर देती

हैं, (कभी) अभिनय करके रिझा लेती हैं, (कभी) उनकी भर्त्सना करती हैं, (कभी) विलास के लिए प्रेरित करती हैं और (कभी) विरह-वेदना से संतप्त कर देती हैं ॥२१॥

विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमाणां छायासु तन्वी विचचार काचित् ।
स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन निवारयन्ती शशिनो मयूखान् ॥२२॥

वन-वृक्षों की छाया में विश्राम करती-करती कोई विरहिणी (वस्तुतः कृष्णाभिसारिका नायिका) अपने हाथों से स्तनों पर पड़े हुए आँचल को उठाकर चन्द्रमा की किरणों को हटाती हुई जा रही है ॥२२॥

अदर्शने दर्शनमात्रकामा दृष्ट्वा परिष्वंगरसैकलोलाः ।
आलिंगितायां पुनरायताक्ष्यामाशास्महे विग्रहयोरभेदम् ॥२३॥

जब तक (हम) बड़ी-बड़ी आँखों वाली नवयुवती को देख नहीं पाते तब तक उसे देखने मात्र की लालसा रहती है; देख लेने पर उसके आलिङ्गन से मिलने वाले आनन्द की कामना करते हैं और फिर आलिङ्गन कर लेने पर यह चाहते हैं कि उससे कभी वियोग ही न हो ॥२३॥

मालती शिरसि जृम्भणोन्मुखी चन्दनं वपुषि कुंकुमान्वितम् ।
वक्षसि प्रियतमा मनोहरा स्वर्ग एष परिशिष्ट आगतः ॥२४॥

(अगर) मस्तक में खिलने वाली मालती पुष्पमाला हो, शरीर में केशरमिश्रित चन्दन का लेप हो और सीने में (लिपटी हुई) रमणीय प्रेयसी हो तब तो शेष स्वर्ग का ही सुख मिल जाय ॥२४॥

प्राङ् मामेतिमनागमानितगुणं जाताभिलाषं ततः ।
सव्रीडं तदनु श्लथोद्यतमनुप्रत्यस्तधैर्यं पुनः ॥

प्रेमार्द्र स्पृहणीयनिर्भररहःक्रीडाप्रगल्भा ततो ।
निःशंकाङ्गविकर्षणादिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ॥२५॥

वस्तुतः कुलस्त्री से ही समागम रमणीय होता है, (क्योंकि) वह पहले तो एक बार नहीं-नहीं करती है (अर्थात् अत्यधिक लज्जा का अभिनय करती है), फिर विलास की कामना जागृत करती है, फिर लज्जा से शरीर को शिथिल कर देती है, उसके अनन्तर अधीर हो उठती है, फिर प्रेम से भीगे हुए अत्यन्त प्रिय एकान्त-विलास के लिए लज्जा (एकदम) छोड़ देती है और फिर निःशङ्क होकर अङ्गों के बलपूर्वक कर्षण आदि में मुक्त आनन्द लेती है ॥२५॥

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।
सुरतजनितखेदस्विन्नगण्डस्थलीना-
मधरमधुवधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥२६॥

ऐसी स्त्रियों के अधर-मधु का पान भाग्यशाली पुरुष ही कर पाते हैं जो (रति के समय) वक्षःस्थल पर लेट जाती हैं; जिनके सुगन्धित केश बिखर जाते हैं, जिनकी कलियों की तरह खिली हुई आँखें अधमुंदी रहती हैं और जिनके कपोलों पर सम्भोग से उत्पन्न श्रम-सीकर छलक पड़ते हैं ॥२६॥

आमीलितनयनानां यः सुरतरसोऽनुसंविदं कुरुते ।
मिथुनैर्मिथोवधारितमवितथमिदमेव कामनिर्वहणम् ॥२७॥

वस्तुतः वही पुरुष काम-वासना का यथेष्ट निर्वाह कर पाता है जो अधमुँदी आँखों वाली स्त्रियों से परस्पर समागम करके उन्हें रति-विलास की तृप्ति प्रदान करे ॥२७॥

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां
यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः ।
यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां
स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥२८॥

यह बड़ी अनुचित और प्रतिकूल बात है कि पुरुषों में वृद्धावस्था में भी काम-सम्बन्धी विकार उत्पन्न होते हैं जबकि युवतियों के साथ तो ऐसा नहीं होता कि वे तभी तक जीवित रहें और काम चेष्टा करें जब तक कि उनके उरोज श्लथ न हो जावें ॥२८॥

एतत्कामफलं लोके यद्वयोरेकचित्तता ॥
अन्यचित्तकृते कामे शवयोरिव सङ्गमः ॥२९॥

संसार में काम-वासना की यही सफलता है कि स्त्री-पुरुष दोनों रति-विलास में एकाग्रचित्त रहें। अगर कहीं सम्भोग के समय ध्यान दूसरी जगह रहा तो वह मृतकों का सा समागम होता है ॥२९॥

प्रणयमधुराः प्रेमोद्गाढा रसादलसास्तथा
भणितिमधुरा मुग्धप्रायाः प्रकाशितसंमदाः।
प्रकृतिसुभगा विश्रम्भार्हाः स्मरोदयदायिनो ।
रहसि किमपि स्वैरालापा हरन्ति मृगीदृशाम् ॥ ३०॥

मृगनयनी स्त्रियों के एकान्त में किये गये स्वच्छन्द आलाप मन को मुग्ध कर देते हैं, (क्यों) कि वे प्रणय-पेशल और प्रेम-भावना से उन्मद होते हैं; उनका स्वर सुखकर और सुनने में मधुर होता है; वे प्रमोद उत्पन्न करने वाले और स्वभाव से ही रमणीय होते हैं तथा विश्वास-पात्र और काम-भावना को जागृत करने वाले होते हैं ॥३०॥

आवासः क्रियतां गांगे पापहारिणि वारिणि ।
स्तनमध्ये तरुण्या वा मनोहारिणि हारिणि ॥३१॥

या तो ऐसी गङ्गाजी के तट पर निवास करे जिनका जल पाप हर लेता है अथवा ऐसी तरुणी के स्तनों के मध्य-प्रदेश में रहे जो मन को मुग्ध कर देता है और जहाँ पर हार सुशोभित होता है ॥३१॥

प्रियपुरतो युवतीनां तावत्पदमातनोतु हृदि मानः ।
भवति न यावच्चंदनतरुसुरभिर्मधुसुनिर्मलः पवनः ॥३२॥

प्रियतम के सामने युवतियों के मन का अहङ्कार तभी तक स्थिर रह पाता है जब तक चन्दन के वृक्ष से सुरभित स्वच्छ मलयानिल नहीं बहता ॥३२॥

अथ ऋतुवर्णनम्

अथ बसन्तः

परिमलभृतो वाताः शाखा नवांकुरकोटयो
मधुरविरतोत्कण्ठा वाचः प्रियाः पिकपक्षिणाम् ।
विरलसुरतस्वेदोद्गारा वधूवदनेन्दवः
प्रसरति मधौ रात्र्यां जातो न कस्य गुणोदयः ॥३३॥

ऐसी वसन्त ऋतु की रात्रि में किन-किन गुणों का विकास नहीं होता जिसमें सुरभित वायु चल रही हो और पेड़ की डालों पर करोड़ों नये-नये अंकुर निकल रहे हों; जिसमें कोयल आदि विहंगों के मधुरकूजन उत्कण्ठा से भरे और प्यारे लगते हैं, तथा स्त्रियों के मुखचन्द्र पर सम्भोग-श्रम से उत्पन्न स्वेद बिन्दु शोभित होते हैं ॥३३॥

मधुरयं मधुरैरपि कोकिला-
कलकलैर्मलयस्य च वायुभिः।
विरहिणः प्रणिहन्ति शरीरिणो
विपदि हन्त सुधापि विषायते ॥३४॥

यह मधुमास कोयलों के मधुमय कूजन तथा मलयानिल से विरहियों का हनन कर डालता है। (इससे तो यही प्रतीत होता है कि) विपत्ति में अमृत भी विष का रूप धारण कर लेता है (क्योंकि साधारणतः कोयलों का स्वर और मलयानिल घातक नहीं होते, केवल वियोग में हो जाते हैं) ॥३४॥

आवासः किल किंचिदेव दयितापार्श्वे विलासालसः।
कर्णे कोकिलकाकलीकलरवः स्मेरो लतामण्डपः॥
गोष्ठी सत्कविभिः समं कतिपयैः सेव्याः सितांशोः कराः।
केषांचित्सुखयन्ति नेत्रहृदये चैत्रे विचित्राः क्षपाः॥३५॥

मधुमास की अनुपम रातें केवल कुछ लोगों के हृदय और आँखों को सुख देती हैं, (क्योंकि) उनमें ही (केवल कुछ भाग्यशाली व्यक्तियों के लिए) कामिनी के पास विलासोन्मद होकर आवास करना और कान से कोयलों का कलरव सुनना सुलभ हो पाता है और उनमें ही सुन्दर लतामण्डप, कुछ अच्छे कवियों के साथ सम्मेलन तथा रमणीय चन्द्रिका का सुख मिल पाता है ॥३५॥

पान्थस्त्रीविरहानलाहुतिकलामातन्वती मञ्जरी।
माकन्देषु पिकाङ्गनाभिरधुना सोत्कण्ठमालोक्यते॥
अप्येते नवपाटलापरिमलाः प्राग्भारपाटच्चरा।
वांति क्लांतिवितानतानवकृतः श्रीखण्डशैलानिलाः॥३६॥

वसन्त में पथिकों की स्त्रियों की विरहाग्नि में आहुति डालने वाली कोकिला आम की मञ्जरी को उत्कण्ठा से देखती है और (वसन्त में ही) नये-नये पाटलों की सुरभि को चुराने वाली तथा विरह-संताप को तीव्र कर देने वाली मलयाचल की हवायें भी बहती हैं ॥३६॥

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्छितदिगन्ते ।
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा ॥३७॥

ऐसे ऋतुराज वसन्त में किसे उत्कण्ठा नहीं होती जिसमें आम्र के पुष्पों की केसर-राशि की सुरभि दिशाओं में छा रही है (और) जिसमें भौंरे मीठे-मकरन्द का पान कर उन्मत्त हो रहे हैं ॥३७॥

अच्छाच्छचन्दनरसार्द्रकरा मृगाक्ष्यो
धारागृहाणि कुसुमानि च कौमुदी च ।
मन्दो मरुत्सुमनसः शुचि हर्म्यपृष्ठं
ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्द्धयन्ति ॥३८॥

गीष्म-ऋतु में मृगनयनी स्त्रियों के अति धवल चन्दन के लेप से भीगे हुए हाथ, मन्दिर, पुष्प, चन्द्रिका, मन्द-मन्द पवन, लताएं तथा महल की शुभ्र छत—ये सभी चीजें काम भावना और मद को विकसित करती हैं ॥३८॥

स्रजो हृद्यामोदा व्यजनपवनश्चन्द्रकिरणाः
परागः कासारो मलयजरजः सीधुविशदम् ।
शुचिः सौधोत्सङ्गः प्रतनु वसनं पंकजदृशो
निदाघे तूर्णं तत्सुखमुपलभन्ते सुकृतिनः ॥३९॥

गीष्मऋतु में सुकर्म करने वाले लोग इन सभी वस्तुओं से आनन्द उठाते हैं—मोहक सुगन्धों वाली माला, पंखे की हवा, चाँदनी, फूलों का पराग, सरोवर, चन्दन की धूलि, उज्ज्वल मदिरा, राजप्रासाद की शुभ्र छत, झीना वस्त्र और कमलनयनी स्त्रियाँ ॥३९॥

सुधाशुभ्रं धाम स्फुरदमलरश्मिः शशधरः
प्रियावक्त्राम्भोजं मलयजरजश्चाति सुरभि।
स्रजो हृद्यामोदास्तदिदमखिलं रागिणि जने
करोत्यन्तः क्षोभं न तु विषयसंसर्गविमुखे ॥४०॥

चूनाकारी के कारण उज्ज्वल गृह, विमल किरणों वाला उत्कट चन्द्रमा, प्रेयसी का मुखकमल, अतिशय सुगन्धों वाला चन्दन, मन को प्रसन्न करनेवाली सुरभित पुष्पों की माला—ये सभी वस्तुएँ अनुरक्त पुरुषों को तो विक्षुब्ध कर देती हैं परन्तु विषय-वासनाओं से पराङ्मुख लोगों को नहीं ॥४०

अथ वर्षासमयः

तरुणी चैषा दीपितकामा विकसितजाती पुष्पसुगन्धिः।
उन्नतपीनपयोधरभारा प्रावृट् कुरुते कस्य न हर्षम् ॥४१॥

वर्षारूपी यह तरुणी वासना को उद्दीप्त करके, जूही की सुगन्ध तथा उन्नत मेघों (तरुणी के पक्ष में, उरोजों) के भार से बोझिल होकर किसे प्रमुदित नहीं करती ॥४१॥

वियदुपचितमेघं भूमयः कन्दलिन्यो
नवकुटजकदम्बामोदिनो गन्धवाहाः।

शिखिकुलकलकेकारावरम्या वनान्ताः
सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ॥४२॥

सुखी तथा दुःखी सभी लोगों को वारिदों से व्याप्त आकाश, कन्दलों से भरी पृथ्वी, नये-नये कुटज और कदम्ब के फूलों से सुगन्धित पवन और भौरों के झुण्ड के कलरव से रमणीय वन-प्रदेश उत्कण्ठित कर देते हैं ॥४२॥

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूराः।
वसुधा कंदलधवला तुष्टिं पथिकः क्व यातु संत्रस्तः॥४३॥

ऐसे समय में विरही पथिक कैसे तृप्त रहे जब ऊपर तो घनेरे बादल, रास्ते में नाचते हुए मोर और कन्दलों से भरी पृथ्वी है (अर्थात् जब सभी विरह को उद्दीप्त करने वाले उपकरण उपस्थित हैं तो पथिक सुखी कैसे रह सकता है ॥४३॥

इतो विद्युद्वल्ली विलसितमितः केतकितरोः
स्फुरद्गन्धः प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जिमितः ।
इतःकेकिक्रीडाकलकलरवः पक्ष्मलदृशां
कथं यास्यन्त्येते विरहदिवसाः संभृतरसाः॥४४॥

वर्षा में स्त्रियाँ विरह के दिनों को कैसे बितायेंगी जब कहीं तो बिजली की छटा का विलास है और कहीं उत्कट सुगन्धों वाले केतकी के वृक्ष हैं; कहीं जल से ओत-प्रोत बादल गर्जन कर रहें हैं और कहीं मयूरों के विलास की कलकल-ध्वनि गूंज रही है ॥४४॥

असूचीसंसारे तमसि नभसि प्रौढजलद-
ध्वनिप्राप्ते तस्मिन् पतितदृषदानीरनिचये ।

इदं सौदामिन्याः कनककमनीयं विलसितं
मुदं च म्लानिं च प्रथयति पथिष्वेव सुदृशाम् ॥४५॥

उस समय स्त्रियों में प्रोषित पतियों के प्रति प्रसन्नता और संताप दोनों ही भावों का उद्रेक होता है जब अन्धकार इतना घना हो कि कुछ दिखलाई ही न पड़े, जब आकाश में जल से भरे बादल गरज रहे हों, घनघोर वर्षा में ओले पड़ रहे हों और स्वर्ण के समान रमणीय बिजली बार-बार चमक पड़ती हो ॥४५॥

आसारेण न हर्म्यतः प्रियतमैर्यातुं बहिः शक्यते ।
शीतोत्कम्पनिमित्तमायतदृशा गाढं समालिंग्यते ॥
जाताः शीतलशीकराश्च मरुतो वान्त्यन्तखेदाच्छिदो ।
धन्यानां बत दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासंगमे ॥४६॥

भाग्यशाली पुरुषों के लिए तो दुर्दिन (वर्षा के दिन) भी प्रेयसी के साथ विलास करने में अच्छे दिन बन जाते हैं, क्योंकि वर्षा की झड़ी में घर से बाहर न निकल सकने के कारण बड़ी-बड़ी आँखों वाली स्त्रियाँ अपने पतियों से जाड़े से काँपने का बहाना करके आलिङ्गन करती हैं और (साथ में) उनके संभोग-श्रम को हरने वाला पवन भी शीतल जलबिन्दुओं को धारण करता है ॥४६॥

अथ शरत्

अर्द्धं नीत्वा निशायाः सरभससुरतायासखिन्नश्लथाङ्गः
प्रोद्भूतासह्यतृष्णो मधुमदनिरतो हर्म्यपृष्ठे विविक्ते ॥
संभोगक्लान्ता कान्ता शिथिलभुजलतार्जितं कर्करीतो
ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारं पिबति न सलिलं शारदं मंदभाग्यः ॥४७॥

वह अभागा ही है जो ऐसी शरद ऋतु की चन्द्रिका की स्वच्छ धारा का पान नहीं करता, जिसमें अर्द्ध रात्रि बीत जाने पर जोश के साथ समागम करने के कारण अङ्ग थक गये हों और मैथुन से क्लान्त स्त्री, मदिरा पान से उन्मत्त होने पर भी अत्यन्त प्यास से व्याकुल विजन महल में बैठे हुए पति को, शिथिल भुजाओं से पानी लाकर दे ॥४७॥

हेमन्ते दधिदुग्धसर्पिरशना माञ्जिष्ठवासोभृतः
काश्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवपुषः खिन्ना विचित्रैः रतैः ॥
पीनोरःस्थलकामिनीजनकृताश्लेषा गृहाभ्यन्तरं-
ताम्बूलीदलपूगपूरितमुखा धन्याः सुखं शेरते ॥४८॥

हेमन्त में सुख-पूर्वक भाग्यशाली लोग ही सो पाते हैं जिनका भोजन दही, दूध और घी है, जो मजीठ, से रंगे वस्त्र धारण करते हैं, जिनके शरीर पर कश्मीर के द्रवों (केसर, कस्तूरी आदि) का खूब लेप हुआ है, जिनसे अनेक प्रकार की कामक्रीड़ा से क्लान्त, पुष्ट जंघों और स्तनों वाली स्त्रियाँ आलिङ्गन करती हैं और जिनके मुख पान और सुपारी से आपूरित हैं ॥४८॥

अथ शिशिरः

चुम्बन्तो गंडभित्तीरलकवति मुखे सीत्कृतान्यादधाना ।
वक्षःसूत्कंचुकेषु स्तनभरपुलकोद्भेदमापादयन्तः ॥
ऊरूनाकम्पयन्तः पृथुजघनतटात्स्रंसयन्तोंशुकानि ।
व्यक्तं कांताजनानां विटचचरितकृतः शैशिरा वांति वाताः॥४९॥

शिशिर-ऋतु में पवन कामियों के सदृश आचरण करते हुए चलते हैं, क्योंकि (वे) स्त्रियों के कपोलों का चुम्बन करते हैं, अलक वाले मुख में

सी-सी शब्द उत्पन्न करते हैं, चोली से रहित वक्षःस्थल पर स्तनों में रोमाञ्च पैदा करते हैं, जाँघों को कम्पित करते और स्थूल जघन-प्रदेश से वस्त्रों को हटा देते हैं ॥४६॥

केशानाकलयन्दृशो मुकुलयन्वासो बलादाक्षिपा-
न्नातन्वन्पुलकोद्गमं प्रकटयन्नालिंग्य कम्पञ्छनैः ॥
वारंवारमुदारसीत्कृतकृतोदन्तच्छदान्पीडय-
न्प्रायः शैशिर एष संप्रति मरुत्कांतासु कांतायते ॥५०॥

शिशिर का पवन इस समय पति का सा आचरण करता है, (क्योंकि यह कामिनियों के) बालों को विस्रस्त और आँखों को मुकुलित करता है, बलात्कार से वस्त्र उड़ा देता है और शरीर को रोमाञ्चित कर देता है, आश्लेष द्वारा कम्पन उत्पन्न करता और बार-बार सी-सी करते हुए होठों को सताया करता है ॥५०॥

असाराः सन्त्वेते विरतिविरसायासविषया
जुगुप्सन्तां यद्वा ननु सकलदोषास्पदमिति ।
तथाप्यन्तस्तत्त्वे प्रणिहितधियामप्यतिबल-
स्तदीयोऽनाख्येयःस्फुरतिहृदयेकोऽपिमहिमा ॥५१॥

यदि लोग विषय-वासनाओं की, सारहीन, विरक्ति से विमुख करने वाला तथा सभी दोषों का घर समझकर, निन्दा करें तब भी इनकी बड़ी महत्ता है, (क्योंकि) ये उनके हृदय में भी प्रकट होती हैं जिनकी बुद्धि अनिवर्चनीय ब्रह्म-चिन्तन में स्थिर हो गई है ॥५१॥

भवन्तो वेदान्तप्रणिहितधियामाप्तगुरवो
विदग्धालापानां वयमपि कवीनामनुचराः ।

वह अभागा ही है जो ऐसी शरद ऋतु की चन्द्रिका की स्वच्छ धारा का पान नहीं करता, जिसमें अर्द्ध रात्रि बीत जाने पर जोश के साथ समागम करने के कारण अङ्ग थक गये हों और मैथुन से क्लान्त स्त्री, मदिरा पान से उन्मत्त होने पर भी अत्यन्त प्यास से व्याकुल विजन महल में बैठे हुए पति को, शिथिल भुजाओं से पानी लाकर दे ॥४७॥

हेमन्ते दधिदुग्धसर्पिरशना माञ्जिष्ठवासोभृतः
काश्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवपुषः खिन्ना विचित्रैः रतैः ॥
पीनोरःस्थलकामिनीजनकृताश्लेषा गृहाभ्यन्तरं-
ताम्बूलीदलपूगपूरितमुखा धन्याः सुखं शेरते ॥४८॥

हेमन्त में सुख-पूर्वक भाग्यशाली लोग ही सो पाते हैं जिनका भोजन दही, दूध और घी है, जो मजीठ, से रंगे वस्त्र धारण करते हैं, जिनके शरीर पर कश्मीर के द्रवों (केसर, कस्तूरी आदि) का खूब लेप हुआ है, जिनसे अनेक प्रकार की कामक्रीड़ा से क्लान्त, पुष्ट जंघों और स्तनों वाली स्त्रियाँ आलिङ्गन करती हैं और जिनके मुख पान और सुपारी से आपूरित हैं ॥४८॥

अथ शिशिरः

चुम्बन्तो गंडभित्तीरलकवति मुखे सीत्कृतान्यादधाना ।
वक्षःसूत्कंचुकेषु स्तनभरपुलकोद्भेदमापादयन्तः ॥
ऊरूनाकम्पयन्तः पृथुजघनतटात्स्रं सयन्तोंशुकानि ।
व्यक्तं कांताजनानां विटचचरितकृतः शैशिरा वांति वाताः ॥४९॥

शिशिर-ऋतु में पवन कामियों के सदृश आचरण करते हुए चलते हैं, क्योंकि (वे) स्त्रियों के कपोलों का चुम्बन करते हैं, अलक वाले मुख में

सी-सी शब्द उत्पन्न करते हैं, चोली से रहित वक्षःस्थल पर स्तनों में रोमाञ्च पैदा करते हैं, जाँघों को कम्पित करते और स्थूल जघन-प्रदेश से वस्त्रों को हटा देते हैं ॥४६॥

केशानाकलयन्दृशो मुकुलयन्वासो बलादाक्षिपा-
न्नातन्वन्पुलकोद्गमं प्रकटयन्नालिंग्य कम्पञ्छनैः ॥
वारंवारमुदारसीत्कृतकृतोदन्तच्छदान्पीडय-
न्प्रायः शैशिर एष संप्रति मरुत्कांतासु कांतायते ॥५०॥

शिशिर का पवन इस समय पति का सा आचरण करता है, (क्योंकि यह कामिनियों के) बालों को विस्रस्त और आँखों को मुकुलित करता है, बलात्कार से वस्त्र उड़ा देता है और शरीर को रोमाञ्चित कर देता है, आश्लेष द्वारा कम्पन उत्पन्न करता और बार-बार सी-सी करते हुए होठों को सताया करता है ॥५०॥

असाराः सन्त्वेते विरतिविरसायासविषया
जुगुप्सन्तां यद्वा ननु सकलदोषास्पदमिति ।
तथाप्यन्तस्तत्त्वे प्रणिहितधियामप्यतिबल-
स्तदीयोऽनाख्येयःस्फुरतिहृदयेकोऽपिमहिमा ॥५१॥

यदि लोग विषय-वासनाओं की, सारहीन, विरक्ति से विमुख करने वाला तथा सभी दोषों का घर समझकर, निन्दा करें तब भी इनकी बड़ी महत्ता है, (क्योंकि) ये उनके हृदय में भी प्रकट होती हैं जिनकी बुद्धि अनिवर्चनीय ब्रह्म-चिन्तन में स्थिर हो गई है ॥५१॥

भवन्तो वेदान्तप्रणिहितधियामाप्तगुरवो
विदग्धालापानां वयमपि कवीनामनुचराः ।

तथाप्येतद्भूमौ नहि परिहितात्पुण्यमधिकं
नचास्मिन्संसारे कुवलयदृशो रम्यमपरम् ॥५२॥

आप उन लोगों के श्रेष्ठ गुरु हैं जिनकी बुद्धि वेद-वेदान्त में स्थिर हो गई है और हम भी काव्यशास्त्र के विषय में वार्तालाप करने वाले कवियों के अनुयायी हैं; फिर भी इस जगत में परमार्थ से बढ़कर दूसरा पुण्य नहीं है और न ही कमलनयनी स्त्रियों से बढ़कर कोई सुन्दर वस्तु (अर्थात् यह आपको मानना ही पड़ेगा) ॥५२॥

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्ति शून्यैः प्रलापै-
र्द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम् ।
अभिनवमदलीलालालसं सुन्दरीणां
स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वनं वा ॥५३॥

इस संसार में अर्थहीन बहुत प्रलाप करने से क्या प्रयोजन ? यहाँ तो मनुष्यों के लिए सदा सेवन करने योग्य केवल दो वस्तुएँ हैं—एक तो अपूर्व उन्माद के कारण केलि-विलास की अभिलाषी तथा उरोजों के भार से क्लान्त सुन्दरियों का यौवन ही अथवा वन ही ॥५३॥

अथ विरक्त वर्णनम्

सत्यं जना वच्मि न पक्षपाताल्लोकेषु सर्वेषु च तथ्यमेतत् ।
नान्यन्मनोहारिनितम्बिनीभ्यो दुःखैकहेतुर्न चकश्चिदन्यः ॥५४॥

हे पुरुषो ! मैं बिना पक्षपात किये सच कहता हूँ कि यह तथ्य सभी लोगों को विदित है कि अच्छे नितम्बों वाली स्त्रियों के समान न तो कोई चीज़ रमणीय है और न दुःखों की जड़ ही ॥५४॥

तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मलविवेकदीपकः ।
यावदेव न कुरंगचक्षुषां ताड्यते चपललोचनाञ्चलैः॥५५॥

सिद्ध जनों के भी शुभ्र विवेक का दीपक तभी तक जलता रहता है जब तक मृगनयनी स्त्रियों के चञ्चल नेत्रों रूपी आँचल से (वह) विक्षुब्ध नहीं होता ॥५५॥

वचसि भवति संगत्यागमुद्दिश्य वार्ता
श्रुतिमुखरमुखानां केवलं पण्डितानाम् ।
जघनमरुणरत्नग्रन्थिकाञ्चीकलापं
कुवलयनयनानां को विहातुं समर्थः ॥५६॥

संभोग-सुख छोड़ देने की बात तो केवल वेदशास्त्र-चर्चा में वाचाल पण्डितों के सिद्धान्त-वाक्य में ही सम्भव है, (क्योंकि) कमलाक्षी स्त्रियों के लाल रत्न से जड़ी हुई करधनों वाले जघन-स्थल का परित्याग करने में कौन समर्थ है ॥५७॥

स्वपरप्रतारकोऽसौ निन्दति योलीकपण्डितो युवतीः ।
यस्मात्तपसोऽपि फलं स्वर्गस्तस्यापि फलं तथाप्सरसः॥५७॥

वह पण्डित झूठा, आत्मप्रवञ्चक और दूसरों को भी ठगने वाला है जो युवतियों की निन्दा करता है, क्योंकि तपस्या का फल स्वर्ग है और स्वर्ग का भी फल अप्सराएँ हैं ॥५७॥

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।

किं तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥५८

शक्तिशाली पुरुषों के सामने मैं यह बलपूर्वक कहता हूँ कि संसार में कुछ ऐसे शूरवीर हैं जो मदमत्त हाथी के मस्तक को विदारने में निपुण हैं और कितने ऐसे भी हैं जो विकराल सिंह को भी मारने में कुशल हैं; परन्तु ऐसे पुरुष कम ही होंगे जो कामदेव के दर्प का दमन कर सकें।

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति स नरस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति॥५६॥

मनुष्य सन्मार्ग का अनुसरण, इन्द्रियों का संयमन और लज्जा तथा विनय का आचरण तभी तक कर सकता है जब तक विलासिनी स्त्रियों के भौंहरूप धनुष से खींच कर छोड़े गये, कानों तक फैले हुए तथा अधीर बना देने वाले नेत्र-वाण हृदय पर आघात नहीं करते॥५६॥

उन्मत्त प्रेमसंरम्भादारम्भन्ते यदंगना।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलुकातरः॥६०॥

ब्रह्मा जी भी उस काम-वासना को रोकने में असमर्थ हैं जिसका श्रीगणेश प्रेम से उन्मद स्त्रियाँ कर देती हैं॥६०॥

तावन्महत्त्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकिता।
यावज्ज्वलति नाङ्गेषु हंत पञ्चेषु पावकः॥६१॥

जब तक पाँचों अंगों में कामाग्नि उद्दीप्त नहीं होती तभी तक महानता, बुद्धिमता, कुलीनता और विवेक रह पाते हैं॥६१॥

शास्त्रज्ञोऽपि प्रथितविनयोऽप्यात्मबोधोऽपि बाढं
संसारेऽस्मिन् भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम् ।
येनैतस्मिन्निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती
वामाक्षीणां भवति कुटिलभ्रूलता कुञ्चिकेव ॥६२॥

इस संसार में कोई शास्त्रज्ञ, प्रशस्त विनय वाला और ज्ञानी भले ही क्यों न हो परन्तु सद्गति का पात्र बिरला ही पुरुष होता है, क्योंकि सुन्दर नेत्रों वाली स्त्रियों की तिरछी भौंहें नरक के दरवाजे को कुञ्जी के समान खोल देती हैं ॥६२॥

कृशः काणः खंजः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः ।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरजकपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः ॥६३॥

कामदेव मरे हुए को भी मारता है, क्योंकि दुर्बल, काने, लंगड़े-बहिरे, पुच्छविहीन, ऐसे मनुष्य जिसके घाव में राध भरी हो और शरीर पर सैकड़ों कीड़े व्याप्त हों, तथा भूख से जर्जर वृद्ध पुरुष (इनमें से किसी को भी कामदेव नहीं छोड़ता, (यहाँ तक कि) ऐसा कुत्ता भी कुतिया का पीछा करता है जिसके गले में मिट्टी के घड़े का कण्ठ पड़ा हुआ है ॥६३॥

स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य जननीं सर्वार्थसम्पत्करीं
ये मूढाः प्रविहाय यांति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥६४॥

स्त्रियाँ कामदेव की मुद्रा स्वरूप होती हैं और समस्त धन-सम्पत्ति की जननी भी। जो मूर्ख (उन्हें) छोड़कर (वैराग्य की ओर) जाते हैं वे मन्दमति हैं और झूठे फल की खोज में लगे हैं, (क्योंकि) उन्हें वही (कामदेव) क्रूरता से मारकर नंगा कर देता है, सर मुंड़वा देता है और किन्हीं-किन्ही को पाँच चोटियों वाली जटा धारण करने पर बाध्य करता है और दूसरों को भिखमंगा बनाकर छोड़ता है ॥६४॥

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ॥६५॥

विश्वामित्र, पाराशर आदि मुनि भी, जो वायु तथा जल पीकर एवं पत्ते खाकर रह जाते थे, स्त्री के सुन्दर मुखकमल को देखकर मुग्ध हो गये। (फिर) यदि वे मनुष्य जो अन्न, घी, दूध, दही आदि (व्यञ्जनों) का भोजन करते हैं, इन्द्रियों का संयमन कर लेते हैं, तो विन्ध्याचल भी सागर को पार कर लेता है (अर्थात् दोनों असम्भव हैं) ॥६५॥

अथ स्त्रीणां परित्यागप्रशंसा

संसारेऽस्मिन्नसारे कुनृपतिभवनद्वारसेवावलम्ब-
व्यासंगव्यस्तधैर्यं कथममलधियो मानसं संविदध्युः।
यद्येताः प्रोद्यदिंदुद्युतिनिचयभृतो न स्युरम्भोजनेत्राः
प्रेङ्खत्कांचीकलापाःस्तनभर विनमन्मध्यभागास्तरुण्यः॥६६॥

इस सारहीन जगत् में शुभ्र बुद्धि वाले मनुष्य निम्न कोटि के राजाओं के गृह-द्वार की सेवा अधीर मन से क्योंकर करते यदि (उनके पास) ऐसी

कमलनयनी युवतियाँ न होतीं जो उदीयमान चन्द्रमा की सी कान्ति धारण करती हैं, जिनकी करधनी भुन-भुन करती है और जिनकी कटि स्तनों के भार से झुक गई है ॥६६॥

सिद्धाध्यासितकन्दरे हरवृषस्कन्धावगाढद्रुमे
गङ्गाधौतशिलातले हिमवतः स्थाने स्थिते श्रेयसि ।
कः कुर्वीत शिरः प्रणाममलिनं मानं मनस्वी जनो
यद्यत्रस्तकुरङ्गशावनयना न स्युः स्मरास्त्रं स्त्रियः ॥६७॥

यदि घर में ऐसी कामिनी न होती, जिसकी आँखें निर्भीक हरिणी के शावक के समान हैं और जिसके अंग कामदेव के अस्त्र के समान हैं, तो फिर हिमालय जैसे कल्याणप्रद स्थान को छोड़कर, जिसमें सिद्धजन कन्दराओं में बैठे रहते हैं और नन्दी अपना कंधा पेड़ों से रगड़ता रहता है और जहाँ के पत्थर गंगा जी के जल से धोये जाते हैं, कौन मनस्वी (दूसरे लोगों के सामने) सर झुकाकर अपने सम्मान को मलिन करता ॥६७॥

संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
अंतरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥६८॥

यदि मदभरी आँखों वाली दुस्तर स्त्रियाँ बीच में न आ पड़तीं तो हे संसार ! तुझ से पार पाना थोड़ा भी दुःसाध्य न होता ॥६८॥

अथ यौवनप्रशंसा

राजंस्तृष्णाम्बुराशेर्नहि जगति गतः कश्चिदेवावसानं
कोवार्थोऽर्थैः प्रभूतैः स्ववपुषि गलिते यौवनेसानुरागे ।

गच्छामः सद्म तावद्विकसितनयनेन्दीवरालोकनानां
यावच्चाक्रम्य रूपं झटिति न जरया लुप्यते प्रेयसीनाम् ॥६९॥

हे राजन् ! इस संसार में तृष्णारूपी समुद्र का कोई अन्त नहीं पा सका ! यदि (मेरा) अनुराग भरा यौवन मेरे शरीर के ही अन्दर गल गया तो फिर अधिक धन-दौलत लेकर क्या होगा ? अतएव हम शीघ्र ही घर जाते हैं, (क्योंकि) कहीं ऐसा न हो कि खिले हुए इन्दीवरों के समान नेत्रों वाली हमारी प्रेमिकाओं का सौन्दर्य वृद्धावस्था झट ही विनष्ट कर दे ॥६९॥

रागस्यागारमेकं नरकशतमहादुःखसंप्राप्तिहेतु
र्मोहस्योत्पत्तिबीजं जलधरपटलं ज्ञानताराधिपस्य ।
कन्दर्पस्यैकमित्रं प्रकटितविविधस्पष्टदोषप्रबन्धं
लोकेऽस्मिन्नह्यनर्थं निजकुलदहनं यौवनादन्यदस्ति ॥७०॥

इस संसार में यौवन को छोड़कर अनर्थ करने वाला और अपने वंश को जला डालने वाला कोई दूसरा नहीं है, (क्योंकि वही) आसक्ति का एक मात्र आगार और सैकड़ों नरक के दुःखों का कारण है; अज्ञान का बीज और ज्ञानरूपी चन्द्रमा को ढँकने के लिए मेघरूप है तथा कामदेव का अकेला मित्र और अनेक दोषों को जन्म देने वाला है ॥७०॥

शृङ्गारद्रुमनीरदे प्रचुरतः क्रीडारसस्रोतसि
प्रद्युम्नप्रियबान्धवे चतुरतामुक्ताफलोदन्वति ।
तन्वीनेत्रचकोरपारणविधौ सौभाग्यलक्ष्मीनिधौ
धन्यः कोपऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवेयौवने ॥७१॥

वह पुरुष धन्य है जिसमें ऐसा नवयौवन भी पाकर विकार उत्पन्न नहीं होता जो शृंगाररूपी वृक्षों के लिए (सींचने वाला) मेघ और केलि-

विलास का बड़ा स्रोत है, जो कामदेव का प्यारा भाई और चतुरतारूपी मोतियों का सागर है, जो कामिनियों के नयनरूपी चकोर के लिए पूर्ण-चन्द्रमा और सौभाग्य-लक्ष्मी का खज़ाना है ।।७१।।

अथ कामिनीगर्हणम्

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रोणीभरेत्युत्सुकः
पीनोतुङ्गपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति ।
दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽतिरमते प्रस्तौति जानन्नपि
प्रत्यक्षाशुचिपुत्तिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम् ।।७२।।

अरे ! यह अज्ञान की कुचेष्टा ही तो है कि स्त्री को प्रत्यक्ष अपवित्रता की पुतली जानते हुए भी ज्ञानीजन उसे देखकर मुग्ध तथा मुदित हो जाते हैं, उनमें रमण करते और उनकी प्रशस्ति यह कह कर करते हैं कि वह रमणीय है, कमलनयनी है, बड़े नितम्बों वाली तथा पुष्ट एवं उठे हुए स्तनों वाली है, उसका मुख सुन्दर कमल के समान और भौंहें अति शोभन हैं ।।७२।।

स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादवर्द्धिनी ।
स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम् ।।७३।।

ऐसी स्त्रियों को प्रेयसी क्यों कहते हैं जिन्हें स्मरण करने पर सन्ताप होता है, देखने पर उन्माद बढ़ता है और स्पर्श करने पर मोह होता है ।।७३।।

तावदेवामृतमयी यावल्लोचनगोचरा ।
चक्षुःपथादपगता विषादप्यतिरिच्यते ।।७४।।

(स्त्री) तभी तक अमृत तुल्य होती है जब तक नेत्रों के सामने रहे, आँखों से दूर होने पर वह विष से भी बढ़कर हो जाती है (अर्थात् विरह-क्लेश देने लगती है) ।।७४।।

नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।
सैवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी॥७५॥

एक नितम्बिनी (स्त्री) को छोड़कर दूसरा न कोई अमृत है और न विष ही, (क्योंकि उसके) अनुरक्त रहने पर वही अमृत की लता सी रहती है और विरह हो जाने पर विष की बेल बन जाती है ॥७५॥

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां ।
दोषाणां सन्निधानं कपटशतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ॥
स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं ।
स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिनां मोहपाशः ॥७६॥

ऐसे स्त्री रूपी यन्त्र की सृष्टि (ही) किसने की जो संशयों का भँवर और धृष्टता का घर है, साहस (दुस्साहस) का नगर और अवगुणों का आधार है, अविश्वास और सैकड़ों छल-कपटों का (उत्पन्न करने वाला) खेत, स्वर्ग के द्वार पर विघ्नस्वरूप और नरक का खुला दरवाजा है और जो समस्त माया-मोह का पिटारा, अमृत का रूप धारण किए हुए विष तथा मोह में फँसाने का जाल है ॥७६॥

सत्यत्वेन शशांक एष वदनीभूतो नवेन्दीवर-
द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यङ्गयष्टिः कृता ।
किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्वं विजानन्नपि
त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मंदो जनः सेवते ॥७७॥

सच कहा जाय तो चन्द्रमा न तो (स्त्रियों का) मुख बन गया, न तो कमल ही (उनके) दोनों नेत्र बना और न (उनके अंग) ही स्वर्ण से बने हुए हैं। फिर भी कवियों ने ऐसी उपमा दी है। इसीसे यह जानते हुए भी

कि (उनका) शरीर (भी) अस्थि-मांस का बना है विवेकहीन पुरुष उनका सेवन करते हैं ।।७७।।

लीलावतीनां सहजा विलासास्त एव मूढस्य हृदिस्फुरन्ति ।
रागो नलिन्या हि निसर्ग सिद्धस्तत्रभ्रमत्येव मुधा षडंघ्रिः।।७८।।

विलासिनी स्त्रियों के हाव-भाव स्वाभाविक होते हैं (फिर भी) वे, बुद्धिहीन मनुष्य का मन आकृष्ट करते हैं। (यह ठीक वैसे ही है जैसे) कमलिनी का रक्ताभ होना तो प्रकृतितः सिद्ध है, परन्तु भौंरा उसी पर मँडराता रहता है (अर्थात् प्राकृतिक गुणों को विवेकहीन पुरुष और भौंरे दोनों ही अपने लिए वशीकरण-मन्त्र समझ बैठते हैं) ।।७८।।

यदेतत्पूर्णेन्दुद्युतिहरदुदाराकृतिवरं
मुखाब्जं तन्वंग्याः किल वसति तत्राधरमधु।
इदं तावत्पाकद्रुमफलमिवातीव विरसं
व्यतीतेस्मिन्काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम् ।।७९।।

अपनी जवानी में ही स्त्रियों का ऐसा मुख-कमल भाता है जिसमें अधरामृत रहता है और जो पूरनमासी के चन्द्रमा की कान्ति को भी हर लेता है। फिर समय बीत जाने पर (वही मुख) मदार के फल के समान नीरस और विष-सा अप्रिय लगने लगता है ।।७९।।

उन्मीलत्त्रिवलीतरङ्गनिलया प्रोतुङ्गपीनस्तन-
द्वन्द्वेनोद्यतचक्रवाकमिथुना वक्त्राम्बुजोद्भासिनी ।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रूराशया नेष्यते
संसारार्णवमज्जनं यदि ततो दूरेण संत्यज्यताम् ।।८०।।

यदि संसार रूपी सागर में डूबने से बचना हो तो ऐसी कामिनीरूपी सरिता का परित्याग कर दो जिसकी (स्त्री पक्ष में) त्रिवली ही लहरें हैं, जिसके ऊँचे और पुष्ट स्तन युगल ही चकई-चकवे हैं, जो मुखरूप कमल से सुशोभित होती हैं तथा जिसके (स्त्री-पक्ष में) अभिप्राय निर्दयतापूर्ण हैं (नदी-पक्ष में, जिसके चारों ओर भँवर हैं) ॥८०॥

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम्॥८१॥

यह मालूम नहीं हो पाता कि स्त्रियों का प्रियतम कौन है, (क्योंकि) वे बातचीत तो किसी दूसरे (पुरुष) से करती हैं, हाव-भाव से देखती हैं किसी और को और मन में सोचती हैं किसी और के बारे में ॥८१॥

मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदि हालाहलमेव केवलम् ।
अतएव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ॥८२॥

स्त्रियों की वाणी में तो मधु रहता है पर हृदय में केवल विष । इसी से अधरों का पान किया जाता है और वक्षःस्थल पर मुष्टि-प्रहार किया जाता है ॥८२॥

अपसर सखे दूरादस्मात्कटाक्षशिखानला-
त्प्रकृति विषमाद्योषित्सर्पाद्विलासफणाभृतः ।
इतरफणिना दष्टा शक्याश्चिकित्सितुमौषधै-
श्चतुरवनिताभोगिग्रस्तं त्यजन्ति हि मन्त्रिणः॥८३॥

हे मित्र ! ऐसे स्त्री रूपी सर्प से दूर भाग जा (क्योंकि उसमें) कटाक्ष-रूपी बाणों की अग्नि है, उसकी गति स्वभाव से ही कुटिल है और उसके हाव-भाव ही (उसके) फण हैं । अन्य सर्पों से डसा हुआ तो दवा से अच्छा भी हो जाता है पर चतुर स्त्री रूपी सर्प के डसे हुए को तो मन्त्र जानने वाले भी छोड़कर भागते हैं (उसकी कोई औषधि नहीं) ॥८३॥

विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण
स्त्रीसंज्ञितं बडिशमत्र भवाम्बुराशौ ।
येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्य-
मत्स्यान्विकृष्य पचतीत्यनुरागवह्नौ ॥८४॥

इस संसार रूपी सागर में कामदेव रूपी केवट ने स्त्री रूपी जाल इसलिए फैलाया है कि (वह कामदेव) अधर-मांस के लोभी मनुष्यरूपी मत्स्य को अपने वश में करके (उन्हें) प्रणयरूपी अग्नि में भून डाले ॥८४॥

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।
मा संचर मनः पान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः ॥८५॥

हे पथिक मन ! तू कामिनियों के शरीररूपी वन में मत जा जो स्तन रूपी पर्वतों के कारण अत्यन्त दुर्गम हो गया है, (क्योंकि) वहाँ कामदेव रूपी चोर बसता है ॥८५॥

व्यादीर्घेण चलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना
नीलाब्जद्युतिनाहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा ।
दष्टे सन्ति चिकित्सका दिशिदिशि प्रायेण धर्मार्थिनो
मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य न हि मे वैद्यो न चाप्यौषधम् ॥८६॥

यदि मनुष्य को दीर्घकाय, चपल, कुटिल गति तथा चमकते हुए फण वाला नील कमल के सदृश काला साँप भी डस ले तो अच्छा है, परन्तु (स्त्री के) कटाक्ष का काटा अच्छा नहीं, (क्योंकि) साँप से डसे (मनुष्य) के लिए प्रायः सभी दिशाओं में उपकार करने वाले चिकित्सक मिलते हैं परन्तु मेरे लिए, जिसे मदिर आँखों वाली स्त्री ने क्षण भर(अपनी दृष्टि से) काट लिया है, न तो कोई वैद्य है और न कोई दवा ॥८६॥

इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयं

स्फुरित परिमलोऽसौ स्पर्श एषस्तनानाम् ।

इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणो

ह्यहितकरणदक्षैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽसि ॥८७॥

हे मनुष्य ! परमार्थ नष्ट करने वाली अमंगलकारिणी पाँचों इन्द्रियों (कान, आँख, जीभ, नाक और त्वचा) ने क्रमशः तुझे घूम-घुमाकर ठग लिया है। (जिससे तुझे लगता है कि) यह मीठा संगीत है, यह नृत्य है, यह स्वाद की वस्तु है, यह सुरभि विलसित हो रही है और यह स्तनों का सुख स्पर्श है ॥८७॥

न गम्यो मन्त्राणां न च भवति भैषज्यविषयो

न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शान्तिकशतैः ।

भ्रमावेशादङ्गे किमपि विदधन्द्भव्यमसमं

स्मरोऽपस्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥८८॥

यह कामदेव रूपी मिरगी न तो मन्त्र-साध्य है, न इसकी दवा हो सकती है और न यह सैकड़ों शमन के साधनों से ही नष्ट होती है,(क्योंकि) यह चक्कर लाने के कारण शरीर को एक विचित्र क्लेश से पीड़ित करती है, मन को अशान्त करती और दृष्टि को घुमा देती है (अर्थात् उल्टी कर देती है) ॥८८॥

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च

ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च ।

यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया

पण्यस्त्रीषुविवेक कल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः ॥८९॥

ऐसी वेश्याओं के साथ भला कौन विवेकशील पुरुष रमण करे जो बुद्धि रूपी कल्पलता के लिए (काटने वाली छुरी) शस्त्र स्वरूप है और जो जन्मांध, कुरूप, वृद्धावस्था के कारण जीर्ण-शीर्ण अंगों वाले, गँवार, नीच कुल में उत्पन्न तथा गलने वाले कोढ़ से आक्रान्त मनुष्य को भी अपना सुन्दर शरीर केवल थोड़े से धन के लिए समर्पित कर देती हैं ॥८९॥

वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनसमेधिता ।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥९०॥

वेश्या ऐसी सौन्दर्य रूपी ईंधन से प्रदीप्त कामाग्नि की ज्वाला है जिसमें विलासी पुरुष अपने यौवन और धन (दोनों) का होम कर देते हैं ॥९०॥

कश्चुम्बति कुलपुरुषो वेश्याधरपल्लवं मनोज्ञमपि ।
चारभटचौरचेटकनटविटनिष्ठीवनशरावम् ॥९१॥

वेश्या के रमणीय अधर-पल्लवों का भी चुम्बन कौन कुलीन पुरुष करता है; (क्योंकि) वह तो गुप्तचर, ठग, भट, चोर, दास नट, विट आदि के थूकने का पात्र है ॥९१॥

अथ सुविरक्तप्रशंसा

धन्यास्त एव तरलायतलोचनानां
तारुण्यरूपघनपीनपयोधराणाम् ।
क्षामोदरोपरिलसत्त्रिवलीलतानां
दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न येषाम् ॥९२॥

वे मनुष्य धन्य हैं जिनके मन में ऐसी स्त्रियों का भी रूप देखकर विकार नहीं उत्पन्न होता जिनकी बड़ी-बड़ी आँखें चपल हैं और जो जवानी के घमंड में चूर हैं, जिनके उरोज घने और कठोर हैं और जिनके कृश उदर पर त्रिवली शोभित होती हैं ॥९२॥

बाले लीलामुकुलितममी सुन्दरा दृष्टिपाताः
किं क्षिप्यन्ते विरमविरम व्यर्थ एष श्रमस्ते।
सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः॥९३॥

हे बाले! हम पर ऐसे कटाक्ष क्यों डालती है जो विलास से कुछ-कुछ खिले हुए और रमणीय हैं। रुको, रुको! तुम्हारा यह प्रयास निरर्थक है, (क्योंकि) इस समय मैं कुछ दूसरा ही हो गया हूँ। मेरा बचपन समाप्त हो गया, वानप्रस्थ में निष्ठा हो गई तथा मोह भी क्षीण हो गया। मैं अब विश्व-पाश को तृण-तुल्य मानता हूँ॥९३॥

इयं बाला मां प्रत्यनवरतमिन्दीवरदल-
प्रभाचोरं चक्षुः क्षिपति किमभिप्रेतमनया।
गतो मोहोऽस्माकं स्मरशबरबाणव्यतिकर-
ज्वलज्ज्वालाः शान्तास्तदपि न वराकी विरमति॥९४॥

यह विमूढ़ बाला अब भी शान्त नहीं बैठती। अब तो हमारा अज्ञान समाप्त हो गया है और कामदेव रूपी भील के बाणों से उठी हुई अग्नि भी उपशमित हो गई है, तब भी यह लड़की कमलदलों की कान्ति तिरस्कृत करने वाले नेत्रों से (मेरी ओर) देखती है। इससे इसका क्या अभिप्राय हो सकता है॥९४॥

शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतयः श्वेतातपत्रोज्ज्वला
लक्ष्मीरित्यनुभूयतेस्थिरमिव स्फीते शुभे कर्मणि।
विच्छिन्ने नितरामनङ्गकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकं
मुक्ताजालमिव प्रयाति झटिति भ्रश्यद्दिशो दृश्यताम्॥९५॥

जब सत्कर्म की वृद्धि होती है तभी शुभ्र सदन, विलासमयी तरुणियों और सफ़ेद छत्र से सुशोभित लक्ष्मी का उपभोग निश्चिन्त रूप से हो पाता है। (पुण्य के) विनष्ट हो जाने पर काम-क्रीडा के कलह से टूटे हार के मोतियों के समान बिखर कर, देखो, सभी भोग शीघ्र ही विभिन्न दिशाओं में विलुप्त हो जाते हैं ॥९५॥

सदा योगाभ्यासव्यसनवशयोरात्ममनसो-
रविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति यमिनस्तस्य किमुतैः ।
प्रियाणामालापैरधरमधुभिर्वक्त्रविधुभिः
सनिश्वासामोदैः सकुचकलशाश्लेषसुरतैः ॥९६॥

उन संयमी जनों के लिए प्रेमिकाओं के साथ बातचीत, अधरामृत तथा साँसों की सुरभि से आपूरित मुख-चन्द्र और कुचकुम्भों को सीने से लगाकर संभोग करने से क्या प्रयोजन जिनकी अभिन्न मित्रता ऐसे आत्मा और मन से है जो योग के अभ्यास रूपी व्यसन के वश में हो गए हैं ॥९६॥

किं कन्दर्पकरं कदर्थयसि किं कोदंडझंकारितै
रे रे कोकिल कोमलं कलरवं किं त्वं वृथा वल्गसे ।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते ॥९७॥

मेरे मन ने अब ऐसे शङ्करजी के चरणों के ध्यानरूपी अमृत का आस्वादन कर लिया है जिनके मस्तक पर चन्द्रमा है। फिर हे कामदेव ! तू अपने धनुष की टंकार से मुझे भयभीत क्यों करता है ? हे कोयल ! तू अपने मृदुमधुर कलरव से व्यर्थ क्यों कूजता है ? हे विलासिनी ! तू अब मेरे ऊपर स्निग्ध, चतुर, मोहक, मधुर तथा चपल कटाक्षों का प्रहार मत कर ॥९७॥

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंचारजनितं
तदा सर्वं नारीमयमिदमशेषं जगदभूत् ।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनदृशां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ॥९८॥

जब तक मुझ में कामदेव रूपी अन्धकार से उद्भूत अज्ञान था तभी तक समस्त विश्व स्त्रीमय दिखलाई पड़ता था ! अब (वही आँखें) विवेक रूपी आँजन लगने के कारण समद्रष्टा हो गई हैं और तीनों लोक ब्रह्ममय प्रतीत होते हैं ॥९८॥

वैराग्ये सञ्चरत्येको नीतौ भ्रमति चापरः ।
शृङ्गारे रमते कश्चिद्भुविभेदाः परस्परम् ॥९९॥

संसार में परस्पर मनुष्यों में (अभिरुचि का) भेद है । कोई विरक्ति में लीन रहता, कोई नीति में (अर्थात् सामाजिक कार्य-कलापों में) निमग्न रहता, तो कोई शृङ्गार (प्रेम-विलास) में रमण करता रहता है—(तात्पर्य यह कि इन्हीं तीन अभिरुचियों को ध्यान में रखकर कवि ने तीन शतकों का प्रणयन किया है) ॥९९॥

यद्यस्य नास्ति रुचिरं तस्मिंस्तस्य स्पृहा मनोज्ञेऽपि ।
रमणीयेऽपि सुधांशौ न मनःकामः सरोजिन्याः ॥१००॥

यदि किसी की अभिरुचि किसी चीज़ में नहीं है तो चाहे कितनी भी रमणीय वस्तु क्यों न हो उसे (वह) अच्छी नहीं लगती, (क्योंकि) कमलिनी का अनुराग मनोहर चन्द्रमा में भी नहीं होता (उसका प्रेयस तो सूर्य ही है) ॥१००॥

●

वैराग्यशतकम्
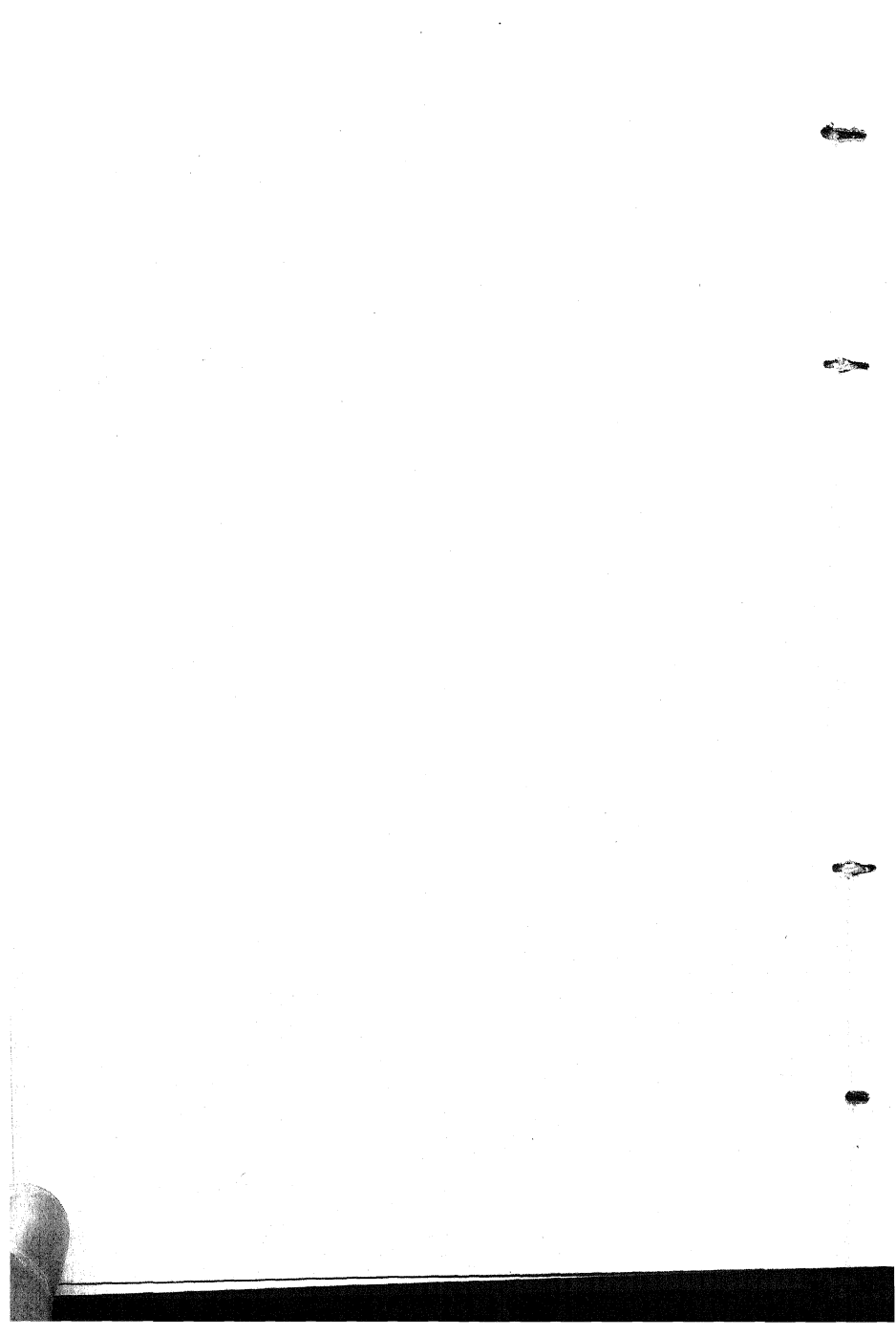
मंगलाचरणम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाऽनन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

देश-काल से अपरिसीमित, अनन्त, ज्ञानस्वरूप, अपनी (आन्तरिक) अनुभूति से ही बोधगम्य, शान्त तथा तेजस्वरूप(ब्रह्म)को प्रणाम है ॥१॥

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥२॥

श्रेष्ठ काव्य शरीर में (ही) सूख जाता है, (क्योंकि) बुद्धिमान लोग तो गर्व से भरे हैं, ऐश्वर्यशाली लोग धन के घमंड में चूर हैं तथा दूसरे जन अज्ञान से ग्रस्त हैं ॥२॥

नसंसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ॥३॥

मैं (इस) जगत् में आविर्भूत जीवन-चर्या को कल्याणमय नहीं देखता (और) विचार करने पर सत्कर्मों का फल भी मुझमें भय उत्पन्न करता है (क्योंकि पुण्य के फल के रूप में प्राप्त स्वर्ग से भी पुण्य क्षीण होने पर पतन ही होता है)। (एवं) चिरकाल तक सत्कर्मों की सहायता से जो भोगादि का संचय किया गया है वह भी भोग-विलास में लीन व्यक्तियों को आख़िर में अत्यधिक दुःख ही देता है ॥३॥

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः ।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम्॥४॥

हे तृष्णे ! अब तो मुझे छोड़ दे। (क्योंकि) धन पाने की उम्मीद में हमने ज़मीन खोद डाली, पर्वत की अनेक धातुओं को औषधियाँ प्राप्त करने के लिए फूँक डाला, रत्नराशि को पाने की इच्छा से सागर को (भी)पार कर डाला, बड़े प्रयास से राजाओं को भी खुश किया तथा मन्त्र की सिद्धि में लीन मन से स्मशान में रातें (भी) बितायीं (परन्तु) मिली मुझे कानी कौड़ी भी नहीं ॥४॥

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशंकया काकव-
त्तृष्णे दुर्मतिपापकर्मनिरते नाद्यापि संतुष्यति ॥५॥

हे तृष्णे ! बुरे विचारों तथा कुकर्मों में लिप्त अब भी तुझे तृप्ति नहीं हुई। (जब कि) अनेक बीहड़ देशों में भरमने पर भी कोई फल नहीं मिला; अपनी जाति और कुल का घमंड छोड़कर (दूसरों की) समुचित

सेवा भी विफल हो गई; (और) मान-मर्यादा छोड़कर, शंकित होकर दूसरों के घर कौवे की तरह भोजन भी किया(पर सब व्यर्थ ही रहा)॥५॥

खलोल्लापाः सोढाः कथमपि तदाराधन परै-
निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमतिशून्येन मनसा।
कृतश्चित्तस्तम्भः प्रहसितधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्त्तयसि माम् ॥६॥

हे आशे ! व्यर्थ मुझे अब क्यों नचाती है ? (क्योंकि तेरी ही तृप्ति के लिए) मैंने दुर्जनों की सेवा में तत्पर होने के कारण (उनके अनेक) दुर्वचन कैसे-कैसे सहे; अन्दर के आँसुओं को रोककर उन्मन(उनके आगे) हँसते भी रहे (तथा) मज़ाक उड़ाने वालों के सामने दिल थाम कर हाथ भी जोड़े (पर सब निरर्थक ही हुआ) ॥६॥

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं।
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते।
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥७॥

अज्ञान से भरी आलस्य की मदिरा पीकर यह संसार पागल हो रहा है। (क्योंकि) सूरज के निकलने और अस्त होने से दिन पर दिन उमर घटती (ही) जाती है; अत्यधिक कार्य-भार से बोझिल व्यापारों में व्यस्त रहने के कारण समय का (भी) पता नहीं चलता; और जन्म, बुढ़ापा, मुसीबतें तथा मृत्यु देखकर (भी) भय नहीं लगता ॥७॥

दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्नरैर्न विधुरा दृश्येत चद्गेहिनी।

याञ्चाभङ्गभयेन गद्गदलसत्त्रुटयद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वीजनः ॥८॥

कौन ऐसा मनस्वी पुरुष होगा जो केवल अपना पेट भरने के लिए, भीख न मिलने के डर से, गद्गद् बचनों से टूटे-फूटे अक्षरों वाली (भीख) 'दो' ऐसी वाणी कहेगा (अर्थात् भीख मांगेगा) अगर (उसके पास ऐसी) पत्नी न हो जिसके फटे-पुराने कपड़ों को अत्यन्त दीन मुंह वाले बच्चे खींच रहे हों और जो अन्न के लिए रोते हुए घर के दूसरे सदस्यों (को देखने) से पीड़ित हो ॥८॥

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकित :॥९॥

अरे ! यह शरीर (इतना) ढीठ है कि तब भी मृत्यु की बात सुनकर चकित हो उठता है (जब) भोग-विलास की कामना क्षीण हो गई, अपनी उमर वाले स्वर्ग चले गए, अन्य मित्रजन भी मरणासन्न हैं, (स्वयं भी) छड़ी के सहारे धीरे-धीरे उठ पाते हैं और दोनों आँखों में (भी) अन्धेरा छा गया है ॥९॥

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रामरुत्कल्पितं
व्यालानां पशवस्तृणांकुरभुजः सृष्टाः स्थलीशायिनः ।
संसारार्णवलंघनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां
यामन्वेषयतां प्रयांति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः ॥१०॥

साँपों के लिए विधाता ने (ऐसी) जीविका बनाई कि वे बिना हिंसा और परिश्रम के भोजन पा जाँय; ऐसे जानवरों का निर्माण किया (जो)

तिनका खाते और ज़मीन पर सोते हैं (परन्तु) संसार-सागर को पार करने में समर्थ बुद्धि वाले मनुष्यों की प्रवृति ऐसी बनाई कि सब गुणों के समाप्त हो जाने पर (भी) जिस चीज़ की तलाश (वे करें) उसमें निरन्तर विफल ही हों ॥१०॥

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥११॥

हम माँ के यौवनरूपी वन काटने के लिए कुल्हाड़ी ही हैं। (क्योंकि) भगवान के चरणों का संसार से मुक्ति पाने के लिए (हमने) यथाविधि ध्यान नहीं किया, ऐसे धर्म का भी उपार्जन नहीं किया जो स्वर्ग के दरवाज़े को खोल सके और न ही स्त्री के पुष्ट उरोजों और दोनों जाँघो का स्वपन्न में (भी) आलिङ्गन किया ॥११॥

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥१२॥

हमने विषय-वासनाओं का भोग नहीं किया (अपितु) खुद ही उनके भोग्य बन गये; तपस्या नहीं की स्वयं जलते रहे; समय नहीं बीता हमी समाप्त हो गये तथा नहीं जीर्ण हुई हमीं बूढ़े हो गए ॥१२॥

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनाः क्लेशान्न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम् ॥१३॥

हमने वही-वही काम किया जिसे-जिसे मुनियों ने प्रवञ्चक कहा। (क्योंकि) हमने क्षमा का पालन तो किया, पर सामर्थ्य के बल पर नहीं (वरन् अपनी कमज़ोरी के कारण); घर का सुख तो छोड़ा पर संतोष की भावना से नहीं ; ठण्डी और गरम हवाओं के असह्य कष्ट को तो सहा पर तपस्या नहीं की ; वैभव पर दिन रात ध्यान लगाये रहे पर नियमपूर्वक शङ्कर जी के चरण का ध्यान नहीं किया ॥१३॥

बलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरंकितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥१४॥

बस, एक लालच ही जवान हो रही है। झुर्रियों से मुँह आक्रान्त हो गया, सिर सफ़ेद बालों से चिह्नित हो गया।(और)अङ्ग भी ढीले पड़ गये ॥१४॥

येनैवाम्बरखण्डेन संवीतो निशि चन्द्रमाः ।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥१५॥

अरे ! यह इन दोनों (चन्द्रमा और सूर्य) की दुर्दशा ही तो है ! (देखो न) आकाश के जिस भाग में चन्द्रमा रात बिताता है उसी में सूर्य दिन बिताता है ॥१५॥

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥१६॥

विषय-वासनाएँ बहुत समय तक भोग लेने पर भी निश्चित रूप से छूट जाँयगी।(इसलिए)आदमी अपने आप ही उनका त्याग क्यों न कर दे ? (क्योंकि) जब वे (वासनाएं) स्वयं हट जाएँगी तो चित्त को अति दुःख देंगी। (और यदि उन्हें मनुष्य) उन्हें स्वयं तिलाञ्जलि दे दे तो वह अनन्त सुख प्राप्त करेगा ॥१६॥

तृष्णाधिकारमाह

विवेकव्याकोशे विदधति शमे शाम्यति तृषा
परिष्वंगे तुङ्गे प्रसरतितरां सा परिणतिः ।
जराजीर्णैश्वर्यग्रसनगहनाक्षेपकृपण-
स्तृषापात्रं यस्यां भवति मरुतामप्यधिपतिः ॥१७॥

विवेक के प्रकाशित होने पर तृष्णा शान्त हो जाती है; वही (तृष्णा) बड़े विलासों के संसर्ग से फैलकर चरम सीमा पर पहुँच जाती है।(क्योंकि) इन्द्र भी ऐसी तृष्णा के वशीभूत होकर उम्र भर भोगे हुए वैभव के कठिन परित्याग में असमर्थ हो जाता है ॥१७॥

मदनविडम्बनमाह

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः ।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरजकपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥१८॥

कामदेव मरे हुए को भी मारता है। (क्योंकि) कुतिया का (संभोग करने के लिए) पीछा करता वह कुत्ता (भी) ऐसा करता है (जो) दुर्बल, काना, लंगड़ा, कनकटा, पूँछरहित है; जिसके फोड़ा हो गया है; जिसके मवाद भरे शरीर में कीड़े पड़े हैं; जो भूखा और बूढ़ा हो गया है (और) जिसके गले में फूटी हुई हाँडी का घेरा पड़ा है ॥१८॥

विषयाणामधिकारमाह

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।

वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमलीनकन्था
हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति॥१६॥

बड़ा आश्चर्य है कि वासनाएं तब भी उन्हें नहीं छोड़तीं (जो) भीख माँगकर खाते हैं, वह भी बिना स्वाद का भोजन केवल (दिन में) एकबार; (जिनकी) शय्या पृथिवी, (और) परिवार अपना शरीर मात्र है; (तथा जिनका) कपड़ा सैकड़ों चीथड़ों वाली कथरी है ॥१६॥

रूपतिरस्कारमाह

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धि जघन-
महो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥२०॥

अरे! (स्त्रियों के) निन्दनीय सौन्दर्य की कवियों ने बड़ी ही (असंगत), प्रशंसा कर रखी है। (क्योंकि) मांस के लोथड़ों वाले उरोजों की उपमा (कवियों ने) सोने के कलश से दी हैं; थूक से भरे मुँह की भी तुलना चन्द्रमा से दी है (तथा) टपकते हुए मूत्र से भीगी जाँघों को वे गजराज के शुण्ड के सदृश बताते हैं ॥२०॥

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम् ।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिला-
न्न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥२१॥

अरे! यह महा अज्ञान की अत्यन्त गूढ़ महिमा है कि पतंग दीपक की आग में अनजाने में गिरता है (अर्थात् वह यह नहीं जानता कि उसमें

मर जायगा); मछली भी कटिया का मांस अनजाने में ही खा लेती है, (परन्तु) हम (मनुष्य जाति) ही ऐसे हैं कि जानते हुए भी दुःख की जाल में फंसाने वाली वासनाओं को नहीं छोड़ते ॥२१॥

बिसमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं
शयनमवनिपृष्ठे वल्कले वाससी च ।
नवधनमधुपानभ्रान्त सर्वेन्द्रियाणा-
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥२२॥

मैं ऐसे दुष्टजनों का अनादर नहीं सह सकता जिनकी सभी इन्द्रियाँ नयी सम्पत्ति रूपी मदिरा पीने से चकराती रहती हैं; जब कि खाने के लिए कमलकन्द, पीने के लिए स्वादिष्ट जल, सोने के लिए पृथिवी तथा पहनने के लिए वल्कल (प्राप्य हैं) ॥२२॥

मानितामुद्दिश्याह

विपुलहृदयैर्धन्यैः कैश्चिज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा ।
इह हि भुवनान्यन्ये धीरास्चतुर्दश भुञ्जते
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ॥२३॥

कुछ ऐसे विशाल हृदय वाले महान् पुरुष प्राचीन काल में हुए जिन्होंने संसार की सृष्टि की । दूसरों ने (उस संसार को) स्थिर रक्खा । (कुछ) अन्य लोगों ने (संसार को) जीतकर तिनके की तरह (दूसरों को) दे दिया । यहाँ (कुछ ऐसे भी) धैर्यवान् पुरुष हैं जो चौदहों भुवनों का पालन करते हैं । (और दूसरे) वे मनुष्य, जिनको कुछ गाँव पाने का अभिमान रूपी ज्वार है, क्या हैं ॥२३॥

निस्पृहाणामधिकारमाह

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः ।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः ॥२४॥

यदि तुम राजा हो तो मैं भी गुरुजनों की सेवा से विद्वता पाकर ऊँचे सम्मान का पात्र हूँ। यदि तुम ऐश्वर्य के कारण प्रसिद्ध हो तो हमारी (विद्या विषयक) कीर्ति कविगण दिशाओं में प्रसारित करते हैं। इस प्रकार हे अनादर करने वाले (राजा)! हम दोनों में बहुत अन्तर नहीं है। (अतः) यदि तुम मुझसे विमुख हो तो मैं भी अकेला (तुमसे अधिक) निरीह हूँ ॥२४॥

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतै-
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभुजाम् ।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्त्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ॥२५॥

जिस बात पर शोक करना चाहिए उस पर मूर्ख लोग उल्टे प्रमुदित होते हैं। (क्योंकि) जिस पृथिवी पर सैकड़ों राजा बिना भोग किए हुए क्षण भर भी (मृत्यु आ जानेपर) रुक न सके उसके प्राप्त होने पर राजाओं को कैसा अभिमान ? अब तो उस (पृथिवी) के टुकड़ों के टुकड़े पाकर लोग राजा बन बैठते हैं ॥२५॥

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं न त्वणु-
रङ्गीकृत्य स एव संयुगशतै राज्ञां गणैर्भुज्यते ।

तद्द्युर्ददतेऽथवा न किमपि क्षुद्रा दरिद्राभृशं
धिगधिक्तान्पुरुषाधमान्धनकणं वांछंति तेभ्योऽपि ये ॥२६॥

उन नीच पुरुषों को धिक्कार है जो धन के कणों का लोभ करते हैं। (क्योंकि) पानी की रेखा (अर्थात् समुद्रों) से घिरी हुई सारी ज़मीन स्वयं ही बहुत छोटी है। सैकड़ों युद्धों के कारण राजाओं ने टुकड़े-टुकड़े करके उसका (उस छोटी पृथिवी का) भोग किया है। (देखें) ऐसे अति नीच और दरिद्र (राजा) कुछ दान देते हैं या नहीं ॥२६॥

दुर्भगसेवकस्यवाक्यमाह

न नटा न विटा न गायना न परद्रोहनिबद्धबुद्धयः।
नृपसद्मनि नाम के वयं कुचभारानमिता न योषितः ॥२७॥

राजा के दरबार में हम क्या हैं? (क्योंकि) न तो हम नट हैं, न व्यभिचारी हैं, न गायक हैं, न हमारा मन दूसरों से झगड़ा मोल लेने वाला है (और) न ही हम स्तनों के भार से झुकी हुई स्त्रियाँ ही हैं (भाव यह है कि इन्हीं लोगों की राज-दरबार में क़दर होती है) ॥२७॥

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये
गता कालेनासौ विषयसुखसिद्ध्यै विषयिणाम्।
इदानीं तु प्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्रविमुखा-
नहो कष्टं सापि प्रतिदिनमऽधोधः प्रविशति ॥२८॥

अरे! यह बड़े खेद की बात है कि पहले विद्वज्जनों की जो विद्या कष्ट को दूर करने के लिए थी वही समय बीतने पर विलासी पुरुषों के भोग-सुख के लिए (प्रयोग में आने लगी) है। इस समय तो विद्या-विमुख राजाओं को देखकर प्रतिदिन वही (विद्या) नीचे ही नीचे जा रही है ॥२८॥

साहङ्कारं पुरुषमुद्दिश्याह

स जातः कोप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं
कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलंकारविषये ।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वर भरः ॥२६॥

ऐसा भी कभी कोई (पैदा हुआ) था जिसके उज्ज्वल मस्तक को भगवान् शङ्कर ने अपने सिर का आभूषण बनाया ? आजकल कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो जीवन-यापन करने वाले कुछ व्यक्तियों से आदर पाकर न जाने कितने अतुल अहङ्कार के ज्वर से उन्मत्त हो रहे हैं ॥२६॥

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावादित्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं नः ।
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न चेतत्त्वयि मम सुतरामेषराजन्गतोऽस्मि ॥३०॥

हे राजन् ! यदि मुझमें तुम्हारी आस्था नहीं है तो मेरी भी तुममें नहीं । (अतः) मैं जाता हूँ, (क्योंकि) यदि तुम ऐश्वर्य के स्वामी हो तो मैं भी विद्या का स्वामी हूँ; यदि तुम (युद्ध में) वीर हो तो मैं भी (शास्त्रार्थ करने वाले) प्रतिद्वन्द्वियों का ज्वर शान्त करने में दक्ष हूँ ; यदि तुम्हारी सेवा धन के लोभी करते हैं तो बुद्धि की मलिनता दूर करने के लिए (शास्त्र) सुनने की इच्छा रखने वाले लोग मेरी भी सेवा करते हैं ॥३०॥

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।

यदाकिंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगतं
तदामूर्खोऽस्मीति ज्वर मदो मे व्यपगतः ॥३१॥

मुझे जब बहुत थोड़ा ज्ञान था तो मैं हाथी की तरह अभिमान में अन्धा हो गया। उस समय मेरा मन अपने को सर्वज्ञ समझ कर गर्व से से भर गया। जब मुझे विद्वानों के संसर्ग से कुछ जानकारी हुई तो (यह जानकर कि) मैं मूर्ख हूँ मेरा ज्वर-सा घमण्ड उतर गया ॥३१॥

निर्ममतास्वरूपमाह

अतिक्रान्तः कालो लटभललनाभोगसुभगो
भ्रमन्तः श्रान्ताः स्मः सुचिरमिह संसारसरणौ।
इदानीं स्वःसिन्धोस्तटभुवि समाक्रन्दनगिरिः
सुतारैः फूत्कारैः शिवशिवशिवेति प्रतनुमः ॥३२॥

समय (जवानी) भूषणों से सुशोभित स्त्री के साथ विलास (करने) में बीत गया। बहुत समय तक इस संसार-पथ में भ्रमण करते-करते थक गया हूँ। (अतः) इस समय स्वर्गङ्गा के तीर पर (स्त्रियों के प्रति) निन्दा के वचनों को ज़ोर-ज़ोर से कहकर शङ्कर जी की भूरि-भूरि उपासना करूँगा ॥३२॥

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थंप्रयातेऽर्थिनी
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने।
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः-
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरदरीकुञ्जे निवासःक्वचित् ॥३३॥

बुद्धिमान् पुरुषों के लिए इस समय यही उचित है कि उस पर्वत की कन्दरा के समीप गुफ़ा और कुञ्ज में कहीं निवास करें जिसके पत्थर गङ्गा-जल से पवित्र हैं (क्योंकि) आदर कम हो गया, धन नष्ट हो गया, याचना करने वाले लौट-लौट जाते हैं, सम्बन्ध जन भी कम हो गये तथा धीरे-धीरे जवानी भी विनष्ट हो गई ॥३३॥

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहु हा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेशकलितम् ।
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगुणे
विमुक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ॥३४॥

हे मन ! तू प्रतिदिन दूसरों के हृदय की अत्यधिक आराधना करके किस सुख को प्राप्त करने के लिए कष्ट भोग रहा है। तू सभी कामनाओं का परित्याग करके अपनी इच्छा पूरी क्यों नहीं करता ? (क्योंकि) तेरे आन्तरिक रूप से प्रसन्न रहने पर चिन्तामणि जैसे गुण स्वयं प्रफुल्लित होंगे ॥३४॥

अथ भोगपद्धतिः

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम्
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥३५॥

पृथिवी पर मनुष्यों के लिए सभी चीजें भयप्रद हैं, केवल वैराग्य ही निर्भय है। (क्योंकि) भोग-विलास में रोग का, परिवार (के बहुत बड़े हो जाने) से पतन का, सम्पत्ति होने पर राजा का, मौन रहने पर दीनता का,

पराक्रम रहने पर शत्रु का, सौन्दर्य के रहने पर बुढ़ापे का, ज्ञान रहने पर प्रतिवादियों का, सद्गुणों के रहने पर दुष्टों का तथा शरीर में यमराज का भय बना रहता है ॥३५॥

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
कृते किन्नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःशंकमनसां
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातमपि ॥३६॥

हमने कमल-पत्र पर बिन्दुओं के सदृश (चञ्चल) इन प्राणों के लिए विवेक का परित्याग करके क्या-क्या नहीं किया ? (क्योंकि) ऐश्वर्य के मद से अन्धे लोगों के सामने अपना गुणगान रूपी पाप तो निर्लज्जतापूर्वक किया ही ॥३६॥

अथ कालमहिमा

भ्रातः कष्टमहो महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सापि राजपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः ॥३७॥

हे भाई ! उस काल को नमस्कार है जिसके वशीभूत होकर सभी चीजें कहानी मात्र रह गयीं । (क्योंकि) यह बड़े खेद की बात है कि वह महान् राजा जिसका राज्य चारों ओर फैला हुआ था, उसकी राज-सभा, तथा (उस दरबार में) सुशोभित होने वाली स्त्रियाँ, उससे सबल राज-पुत्र तथा बन्दीगण—यह सभी (उस काल के वश में रहने के कारण) विनष्ट हो गए ॥३७॥

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमे ते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतनाद्-
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥३८॥

इस समय हम दिन पर दिन,नदी के तट पर बालू में (उगे) पेड़ की तरह पतन की ओर जा रहे हैं (क्योंकि) जिनके साथ हमारा जन्म हुआ था वे बहुत पहले ही (मृत्यु के घाट) चले गए और जिसके साथ हम बड़े हुए वे भी कहानी मात्र रह गए ॥३८॥

यत्रानेके क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र चान्ते न चैकः ।
इत्थं चेमौ रजनिदिवसौ दोलयन्द्वाविवाक्षौ
कालः काल्या सह बहुकलः क्रीडति प्राणसारैः॥३९॥

काल पुरुष आदमियों की गोटी बना-बना कर दिन-रात के पासों को फेंककर अपनी कालरात्रि से खेलता है। (क्योंकि) उस घर में जहाँ बहुत लोग थे केवल एक ही रह गया है। जहाँ एक था और बाद में बहुत सारे (दीख पड़े) थे वहाँ अन्त में एक भी नहीं रह गया ॥३९॥

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं
गुणोदर्कान्दारानुत परिचरामः सविनयम् ।
पिबामः शास्त्रौघान्द्रुत विविधकाव्यामृतरसा-
न्न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषिजने ॥४०॥

इस क्षण-भंगुर मनुष्य (शरीर) को देखकर हमें यह नहीं मालूम कि क्या करें। (क्योंकि हम इसी उहापोह में हैं कि) तपस्या करते हुए गङ्गाजी

के तीर पर निवास करें, या गुणवती कामिनियों के साथ प्रणयपूर्वक विहार करें; अथवा शास्त्रों तथा काव्यों के रसामृत का पान करें ॥४०॥

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः
संप्राप्स्यन्ते जरठहरिणाः श्रृङ्गकंडूविनोदम् ॥४१॥

मेरे ऐसे अच्छे दिन कब होंगे जब हम गङ्गाजी के तट पर हिमालय की चट्टान पर पद्मासन लगायेंगे; ब्रह्म के ध्यान में विधिपूर्वक लीन हो योग-निद्रा प्राप्त करेंगे तथा (मुझ से) निर्भय होकर बूढ़े मृग (हमारे शरीर से रगड़ कर) अपने सींगों की खुजली मिटावेंगे ॥४१॥

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ।
भवाभोगोद्विग्नाः शिवशिवशिवेत्यार्तवचसा
कदा स्यामानन्दोद्गतबहुलवाष्पप्लुतदृशा ॥४२॥

हम ऐसे (सुखी) कब होंगे जब कहीं विकसी हुई चाँदनी से शुभ्र हुए गङ्गातट पर आनन्द से बैठेंगे; सब आवाज़ बन्द हो जाने पर रात में शङ्कर जी की भूरि-भूरि पूजा आर्त्तस्वर से करते हुए सांसारिक क्लेशों से व्याकुल रहेंगे; (तथा जब) खुशी के आँसुओं से आँखें भरी रहेंगी ॥४२॥

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरि-
द्गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः ।
सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यं व्रतमिदं
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥४३॥

क्या-क्या कहें ? शिव ही एक देवता हों (अन्य नहीं, उसी प्रकार) गङ्गा ही एक नदी, गुफा ही एक घर, दिशाएँ ही परिधान, समय ही मित्र, अदीनता ही व्रत तथा वट-वृक्ष की तरह ही (हमारी) पत्नी हो ॥४३॥

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधो गङ्गा सेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥४४॥

विवेक-पथ से विचलित लोगों का पतन सैकड़ों तरह से होता है। (क्योंकि) गङ्गाजी स्वर्ग से शङ्कर जी के सिर पर गिरीं, सिर से हिमालय पर, (उस) ऊँचे पर्वत से पृथिवी पर (तथा) पृथिवी से सागर में जा गिरीं ॥४४॥

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्ताहृतटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥४५॥

आशा (उम्मीद) नाम की एक नदी है। (उसमें) कामना रूपी जल है, तृष्णा रूपी तरंगें हैं, अनुराग रूपी मगर है, अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क ही पक्षी हैं। (वहीं आशा रूपी नदी) धैर्य रूपी वृक्षों का विध्वंस करने वाली है। (उसमें) अज्ञानरूपी भँवरों के कारण अत्यन्त दुस्तर तथा विकट चिन्तारूपी तट हैं। उसी को पार करके पवित्र मन वाले योगीश्वर ही आनन्द प्राप्त करते हैं ॥४५॥

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तादृङ्
नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा ।
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढगूढाभिमान-
क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमालानलीलाम् ॥४६॥

हे भाई ! सारे संसार में ऐसा पुरुष न देखने में आया और न सुनने में, जो विषय-वासनाओं रूपी हथिनी से उत्पन्न, अहंकार से युक्त अन्तःकरण रूपी मतवाले हाथी को अपने वश में रख सके ॥४६॥

साम्प्रतं निर्वेदतायाः स्वरूपमाह

ये वर्द्धन्ते धनपतिपुरः प्रार्थनादुःखभाजो
ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेपपर्यस्तबुद्धेः ।
तेषामन्तः स्फुरितहसितं वासराणां स्मरेयं
ध्यानाच्छेदे शिखरि कुहरग्रावशय्यानिषण्णः ॥४७॥

हम उन दिवसों को अन्तर्मन में प्रफुल्लित होकर ध्यान लगाने से शान्ति पाकर, पर्वत की गुफ़ा में शिलारूपी शय्या पर बैठे हुए याद करेंगे जो (दिवस) ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों से याचना करने के कारण दुःख सहन करने वालों के लिए बढ़ जाते हैं; (और) जो (उनके लिए) घट जाते हैं जिनकी बुद्धि भोग-विलास के कारण उल्टी हो गई है ॥४७॥

विद्या नाधिगता कलंकरहिता वित्तं च नोपार्जितं
शुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पादिता ।
आलोलायतलोचना युवतयः स्वप्नेऽपि नालिङ्गिताः
कालोऽयं परिपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेरितः ॥४८॥

दूसरों के ग्रास की लालसा करते-करते कौए की तरह हमारा सारा समय यों ही बीत गया। (क्योंकि) हमने न तो निर्मल विद्या प्राप्त की, न धन पैदा किया, न ध्यान पूर्वक माँ-बाप की ही सेवा शुश्रूषा की (और) न चपल तथा दीर्घ नेत्रों वाली युवतियों से स्वप्न में भी आलिङ्गन ही किया ॥४८॥

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामावधिगतीः ।
वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणै-
स्त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणाः ॥४९॥

हम शङ्कर जी के चरणों में अपना ध्यान लगाकर, शरद् ऋतु की ज्योत्स्ना में किसी पवित्र बन में बैठे हुए ऐसी रात कब बिताएंगे जब सभी कुछ नष्ट हो जाने पर मेरा हृदय करुणा से भरा होगा और उन (नष्ट हुई) चीज़ों को हम गुणविहीन (नश्वर) मान सकेंगे ॥४९॥

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषावशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ॥५०॥

दरिद्र वह होता है जिसकी लालसाएं बहुत अधिक होती हैं। मन के संतुष्ट रहने पर कौन दरिद्र है और कौन धनाढ्य ? (क्योंकि) तुम (यदि) ऐश्वर्य से सन्तुष्ट हो तो मैं वल्कल से हूँ। (अतः) इस विषय में (हमारे और तुम्हारे) सन्तोष में कोई अन्तर नहीं है ॥५०॥

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम् ।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृश-
न्न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ।।

स्वच्छन्द होकर विहार करना, बिना माँगे भोजन करना, मदद करने वालों के साथ निवास करना, ऐसा शास्त्र सुनना जिसका फल शान्तिरूपी साधना हो, बाहरी (भौतिक) चीज़ों में लगे हुए मन से भी बहुत समय तक विचार मग्न रहना—मैं यह नहीं जानता कि यह सब किस तपस्या के फल हैं ।।५१।।

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशासुदशकममलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसंगतांगीकरणपरिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराःकर्म निर्मूलयन्ति ।।५२।।

वे लोग धन्य हैं जिनकी अन्तरात्मा में संतोष है, जिनका हाथ (ही) पवित्र पात्र है, घूम-घूम कर भीख में पाया हुआ अन्न ही भोजन है, दिशाओं वाला निरभ्र-आकाश ही परिधान है (तथा) थोड़ी सी ज़मीन ही शय्या है; जिन्होंने फल के विषय में अनासक्त रहना स्वीकार कर लिया है, जो सारी दीनता छोड़ चुके हैं, (तथा) जिन्होंने कर्म (की गति) को समूल नष्ट कर दिया है।।५२।।

दुराराध्यः स्वामी तुरगचलच्चित्ताः क्षितिभुजो
वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः ।

जरा देहं मृत्युर्हरति सकलं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ॥५३॥

हे मित्र ! ज्ञानी व्यक्ति के लिए तपस्या छोड़कर कहीं और कल्याण नहीं। (क्योंकि) स्वामियों की सेवा अति कठिन है; राजाओं का मन घोड़ों की चाल की तरह चञ्चल होता है। (फिर) हम तो स्थूल (पदार्थों) की कामना करते हैं! हमारा मन बड़े-बड़े पदों में लगा है। शरीर भी वृद्ध हो चुका है। (और) सारे जीवन का तो मौत अन्त (ही) कर देती है ॥५३॥

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालना तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्य समाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विधद्धं बुधाः ॥५४॥

हे पण्डितो! धैर्य की समाधि लगाने से सुलभ योग में (ही) ध्यान रखो (क्योंकि) विषय-वासनाएँ फैले हुए बादलों में चमकती हुई बिजली की तरह चञ्चल हैं; उम्र (भी) हवा से निखरे हुए बादलों के पानी की तरह नश्वर है; (तथा) जवानी की उमंगें भी अस्थिर हैं ॥५४॥

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालीं कपाली-
मादाय न्यायगर्भद्विजमुखहुतभुग्धूमधूम्रोप कण्ठम् ।
द्वारंद्वारं प्रवृत्तो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणी सधन्योनपुनरनुदितं तुल्यकुल्येषुदीनः ॥५५॥

अपने बराबर के परिवार वालों में दीन होकर रहना अच्छा नहीं; (बल्कि) वह मानी पुरुष अच्छा जो पवित्र गाँव या जंगल में, भूख से

पीड़ित पेट रूपी खोह भरने के लिए ऐसे द्वारों पर जाता है जिनकी चौखट न्यायशील ब्राह्मणों के द्वारा किए गए हवन की अग्नि के धुएं से भरी हुई है ॥५५॥

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोथ किं तापसः
किंवा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणाजनै-
र्नक्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्तिस्वयं योगिनः ॥५६॥

योगीजन स्वच्छन्द अपने रास्ते पर चले जाते हैं। वे ऐसे लोगों से राग द्वेष नहीं करते जो सन्देह में पड़े होने के कारण यह निश्चय नहीं कर पाते कि यह चाण्डाल है या ब्राह्मण, शूद्र है या कोई तपस्वी, अथवा कोई ऐसा योगी है जिसकी बुद्धि तत्त्व-चिन्तन में निपुण है ॥५६॥

सखे धन्याः केचित्त्रुटितभवबन्धव्यतिकरा
वनान्ते चित्तान्तर्विषमविषयाशीविषगताः ।
शरच्चन्द्रज्योत्स्नाधवलगगनाभोगसुभगां
नयन्ते ये रात्रिं सुकृतचयचित्तैकशरणाः ॥५७॥

हे मित्र ! वे लोग धन्य हैं जिसके मन में सत्कर्मों की राशि है, जिन्होंने सांसारिक बन्धनों को तोड़ डाला है, जिनके मन से भयंकर सर्प रूपी भोग-विलास निकल गया है, (तथा) जिनकी रातें शरद् ऋतु की चाँदनी से शुभ्र एवं आकाश के विस्तार से रमणीय होती हैं ॥५७॥

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायसकादाश्रया-
च्छ्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात् ।
शान्तं भावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां गतिं
मा भूयो भज भगुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ॥५८॥

हे मन ! अपनी लहरों जैसी चञ्चल गति छोड़ दे । इस नश्वर संसार की लालसाओं को फिर से मत अपना (बल्कि स्वयं में ही) इस समय प्रसन्न रह । बड़े कष्टदायक, इन्द्रियों के भोग रूपी वन को त्याग दे । सभी क्लेशों को दूर करने में समर्थं कल्याण-पथ को शीघ्र ही ग्रहण कर, (तथा) शान्ति-भावना को स्वीकार कर ले ॥५८॥

पुण्यैर्मूलफलैः प्रिये प्रणयिनि प्रीतिं कुरुष्वाधुना
भूशय्यानववल्कलैरकरणैरुत्तिष्ठ यामो वनम् ।
क्षुद्राणामविवेकमूढमनसां यत्रेश्वराणां सदा
चित्तव्याध्यविवेकविह्वलगिरां नामापि न श्रूयते ॥५९॥

हे प्रेयसि ! मैं तो वन जाता हूँ । तू भी उठ जा और पवित्र फलमूल से अब अपनी उदर-पूर्ति कर तथा भूमि की शय्या और नये बल्कल के कपड़ों से निर्वाह कर । (क्योंकि) उन लोगों का तो नाम भी नहीं सुनाई देता जिनका मन मूर्खता के वश में है, जो नीच प्रकृति के हैं और जिनकी बुद्धि धनरूपी रोग से उत्पन्न हुए अज्ञान के कारण पथ-भ्रष्ट हो गई है ॥५९॥

मोहं मार्जयतामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ
चेतः स्वर्गतरंगिणीतटभुवामासङ्गमङ्गीकुरु ।

को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च स्त्रीषु च
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सरिद्वेगेषु च प्रत्ययः॥६०॥

हे मन ! मोह त्याग दे, उन शिवजी से प्रेम कर जिनके मस्तक पर अर्द्धचन्द्र सुशोभित है तथा गंगाजी के तट की ज़मीन में भक्ति रख। (क्योंकि) लहर, पानी के बुलबुले, बिजली की चमक, स्त्री, आग की लपट, साँप तथा नदी के प्रवाह (जैसी चञ्चल चीजों) का क्या भरोसा ॥६४॥

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वतो दाक्षिणात्याः
पृष्ठे लीलावशपरिणतिश्चामर ग्राहिणीनाम्।
यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं
नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पेः समाधौ ॥६१॥

हे मन ! यदि तेरे सामने गीत मिलें, अगल-बगल दक्षिण के सरस कवि हों तथा पीछे चँवर ग्रहण करने वाली रमणीय कामिनियों का सुख हो तब तो सांसारिक विलासों का आस्वादन कर, अन्यथा शीघ्र ही निर्विकल्प समाधि में ध्यान लगा ॥६१॥

विरमत बुधा योषित्संगात्सुखात्क्षणभंगुरा-
त्कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसंगमम्।
न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलं
शरणमथवा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम् ॥६२॥

हे पण्डितो ! जिस समय नरक में मार पड़ेगी उस समय न तो हारों से सुसज्जित स्त्रियों के घने उरोज और न क्षुद्र घण्टिका से सुशोभित कटि ही सहायता करेगी। (अतएव) रमणियों के साथ समागम करने से उत्पन्न क्षणिक सुख से विराग ले लो (और) मित्रता, करुणा तथा प्रज्ञा रूपी स्त्रियों से ही सम्पर्क रखो ॥६२॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्तया प्रदानं युवति जनकथामूकभावःपरेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥६३॥

कल्याण के मार्ग ये हैं—हिंसा से विराग, दूसरे का धन अपहरण करने में संयम, सत्य बोलना, समय पड़ने पर यथाशक्ति दान देना, दूसरों की स्त्रियों की चर्चा होने के समय मौन रहना, तृष्णा का त्याग करना, गुरु-जनों के सामने विनीत रहना, सभी प्राणियों पर दया करना तथा समस्त शास्त्रों को समान समझना ॥६३॥

मातर्लक्ष्मि भजस्व कञ्चिदपरं मत्कांक्षिणी मास्म भू-
र्भोगेभ्यः स्पृहयालवो न हि वयं का निःस्पृहाणामसि ।
सद्यः पूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृते
भिक्षासक्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ॥६४॥

हे माँ लक्ष्मी! (अब) तू किसी और पुरुष के पास चली जा, मेरी कामना मत कर। (क्योंकि) हम भोग-विलास नहीं चाहते। (और फिर) निरीह व्यक्तियों के लिए तुम्हारा क्या (मूल्य)? इस समय तो हम हरे हरे पलाश के पत्तों के पवित्र दोने में भिक्षा में पाए गए सत्तू से ही अपना जीवन-निर्वाह करना चाहते हैं ॥६४॥

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।
किं जातमधुना येन यूयं यूयं वयं वयम् ॥६५॥

(पहले तो) हम लोगों का विचार यह था कि जो तुम हो (वही) हम हैं और जो हम हैं (वही) तुम हो (अर्थात् कोई द्वैत-भाव नहीं था)। (पर)

अब क्या बात हो गई कि तुम तुम्हीं हो और हम हमी हैं (अर्थात् यह भेद-भावना कैसे जाग उठी) ॥६५॥

बाले लीलामुकुलितममी मन्थरा दृष्टिपाताः
किं क्षिप्यंते विरमविरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ।
संप्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जलमालोकयामः ॥६६॥

हे बाले ! विलास भरे पलकों से धीरे-धीरे नयन बाण क्यों फेंकती है ? रुक जा, रुक जा ! तेरी यह मेहनत बेकार है। (क्योंकि) इस समय हमारा बचपना बीत गया (और) वन (वानप्रस्थ) में आस्था हो गई है। (मेरा) अज्ञान नष्ट हो गया और मैं संसार को तिनके के समान मानता हूँ ॥६६॥

इयं बाला मां प्रत्यनवरतमिन्दीवरदल-
प्रभाचोरं चक्षुः क्षिपति किमभिप्रेतमनया ।
गतो मोहोऽस्माकं स्मरकुसुमबाणव्यतिकर-
ज्वलज्ज्वाला शान्ता तदपि न वराकी विरमति ॥६७॥

(अब तो) हमारा अज्ञान दूर हो गया है और कामदेव के पुष्परूपी बाणों के कारण जलती हुई आग (भी) शान्त हो गई है। (फिर भी) यह मूर्ख युवती मानती नहीं। बार बार मेरे ऊपर नीचे कमल के दल की कान्ति को चुराने वाले नयनों से कटाक्ष करती है। न जाने इससे इसका क्या मतलब हो सकता है ॥६७॥

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकं प्रीतये ।

किंतूद्भ्रान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोलदीपांकुर-
च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं संतो वन्नातं गताः॥६८॥

क्या साधु जनों के रहने के लिए महल नहीं था ? या सुनने के लिए गाने आदि नहीं थे ? (और) क्या (उनके लिए) प्राणों से भी प्यारी अत्यन्त प्रेम-भाव रखने वाली स्त्रियाँ नहीं थीं ? (परन्तु वे) इस संसार को हवा से हिलते हुए दीपक की लौ में भटकते हुए पतंग की तरह अस्थिर जानकर वन चले गये ॥६८॥

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरी वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृतो वल्कलेभ्यश्च शाखाः।
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखोपात्तालपवित्तस्मयवशपवनानर्तितभ्रूलतानि ॥६९॥

उन दुष्टजनों का मुख, जिन्होंने अत्यधिक परिश्रम करके थोड़ा सा धन इकट्ठा कर लिया है और जिनकी भौहें दम्भरूपी वायु से फड़कती रहती हैं, जो लोग ताकते रहते हैं क्या उनके लिए पर्वत की गुफाओं से कन्दमूल और झरनों से निकले वाले पानी समाप्त हो गये हैं ? या, वल्कल-युक्त वृक्षों से रसपूर्ण फलवाली शाखाएं गिर गयी हैं ? (अर्थात् उक्त दुर्जनों से कहीं अच्छा तो सन्यास है) ॥६९॥

गङ्गातरङ्ग कणशीकर शीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ॥७०॥

जो लोग अनादर सहते हुए भी दूसरों से भोजन की कामना करते हैं, उनके लिए क्या हिमालय के ऐसे स्थल नष्ट हो गए हैं जो गंगाजी की लहरों की बूंदों के कारण शीतल हो गए हैं और जगह-जगह पर रमणीक शिलाओं पर विद्याधर बैठे रहते हैं ॥७०॥

यदा मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निनिहतः

समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरनिकरग्राहनिलयाः ।

धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता

शरीरे का वार्त्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥७१॥

जल प्रलयाग्नि से आहत प्रतिष्ठावान् सुमेरु पर्वत गिर पड़ता है, बड़े बड़े मगर और ग्राहादि के आवास रूप समुद्र सूख जाते हैं तथा पर्वतों के भार से दबी हुई पृथिवी भी विनष्ट हो जाती है; तब भला (मनुष्य के) शरीर का क्या कहना जो हाथी की बच्चों के कानों की कोरों की तरह अस्थिर है ॥७१॥

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।

कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥७२॥

हे शङ्कर जी ! भला हम कब अनासक्त, निरीह, शान्त तथा कर्म (गति) का उन्मूलन करने में समर्थ होंगे जब हाथ ही हमारा पात्र होगा और दिशाएं ही परिधान ॥७२॥

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किं

दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।

सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं

कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥७३॥

क्षण भंगुर शरीर धारण करने वालों ने यदि सभी कामनाओं को दुहने वाली (पूर्ण करने वाली) लक्ष्मी पा ली तो क्या हुआ? (उसी प्रकार) यदि शत्रुओं के सिर पर चरण (अपमान सूचक) रख दिया तो क्या हुआ? यदि ऐश्वर्य से (अपते) मित्रों का आदर किया तो क्या हुआ? (और) यदि इस शरीर से थोड़ी देर तक (संसार में) बने रहे तो उससे ही क्या हुआ? (अर्थात् यदि मोक्ष प्राप्त करने की साधना नहीं की तो सब व्यर्थ है) ॥७३॥

जीर्णा कंथा ततः किं सितममलपटं पट्टसूत्रं ततः किं
एका भार्या ततः किं हयकरिसुगणैरावृतो वा ततःकिम्।
भक्तं भुक्तं ततःकिं कदशनमथ वा वासरान्ते ततः किं
व्यक्तज्योतिर्नवान्तर्मथितभवभयं वैभवं वा ततः किम् ॥७४॥

पुरानी कथरी हो, या धवल निर्मल वस्त्र या पीताम्बर; एक ही पत्नी हो, या घोड़े हाथियों सहित बहुत-सी स्त्रियाँ; खाने को अच्छे व्यञ्जन हों या शाम के समय निःस्वाद भोजन—इनसे होता क्या है? यदि हृदय में ऐसी ब्रह्म की ज्योति नहीं देखी जिससे सांसारिक भय (आदि) नष्ट हो जाँय तो बहुत धन ही पाकर क्या होगा ॥७४॥

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमार्थनीयम् ॥७५॥

शङ्कर जी में श्रद्धा हो; मन से जन्म और मृत्यु का डर हो; भाई-बन्धुओं में आसक्ति न हो; कामदेव से उत्पन्न विकार न हो; समागम दोष से बचकर निर्जन वन (निवास के लिए) हो—तो फिर इससे बढ़कर और किस वैराग्य की अभिलाषा की जा सकती है ॥७५॥

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि

तद् ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः।

यस्यानुषंगिण इमे भुवनाधिपत्य-

भोगादयः कृपण लोकमता भवन्ति ॥७६॥

व्यर्थ के विकल्पों से क्या लाभ ? उसी असीम, अजर, परम ब्रह्म का चिन्तन करो जिसकी प्राप्ति का थोड़ा सा भी आनन्द पाने वालों के सामने लोकों के राजाओं के ऐश्वर्यादि फीके लगते हैं ॥७६॥

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य

दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानस चापलेन।

भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनीतं

तद् ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन ॥७७॥

हे मन ! तू चञ्चलता के कारण पाताल में पहुँचता है, आकाश फाँद कर दिशाओं में भ्रमण करता है, पर भूल से भी कभी अपने हृदय में ही विराजमान् उस निर्मल ब्रह्म को याद नहीं करता जिससे तुझे मोक्ष प्राप्त हो ॥७७॥

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा बुधा जन्तवो

धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः।

व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनामुना

संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥७८॥

आश्चर्य है कि ऐसे संसार से निन्दित होने पर भी हम अपने अज्ञान पर लज्जित नहीं होते जिससे दिन और रात (सदा) वही होते हैं (अर्थात्

कोई विशेष नवीनता का आकर्षण नहीं है)। यह जानकर भी बुद्धिमान लोग नित्यप्रति उन्हीं भोगों तथा कार्य-कलापों के पीछे श्रमपूर्वक दौड़ते हैं जो कई बार आरम्भ किए गए हैं तथा जिनका अनुभव भी किया जा चुका है ॥७८॥

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥७९॥

ऐसा मुनि विरक्ति रूपी स्त्री के साथ सुख-शान्ति पूर्वक बड़े वैभवशाली राजाओं की तरह सुख की नींद सोता है जिसकी रमणीक भूमि ही शय्या है, विस्तृत बाँहें ही तकिया हैं, आकाश ही चँदोवा है, अनुकूल हवा ही पंखा है (तथा) चन्द्रमा ही ज्योतिर्मय दीपक है ॥७९॥

त्रैलोक्याधिपतित्वमेव विरसं यस्मिन्महाशासने
तल्लब्ध्वासनवस्त्रमानघटने भोगे रतिं मा कृथाः।
भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते
यत्स्वादाद्विरसा भवन्ति विषयास्त्रैलोक्यराज्यादयः ॥८०॥

(हे जीव !) वस्त्र तथा सम्मान आदि के लिए भोगों में आसक्ति मत रख। (क्योंकि) नित्य प्रकाशित ब्रह्म की प्राप्ति के सामने तीनों लोकों का राज्य फीका जान पड़ता है और उसके स्वाद के आगे तीनों लोकों का राज्य आदि नीरस लगने लगते हैं ॥८०॥

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।

मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ॥८१॥

सांसारिक बन्धनों की दुःखप्रणाली को नष्ट करने के लिए प्रलय की आग के सदृश (कठिन) ब्रह्मानन्द-प्राप्ति के एक उद्योग के बिना अन्य सभी कार्य बनियों की वृत्ति बन जाते हैं। (क्योंकि) वेद, स्मृति, पुराण तथा विस्तार पूर्वक शास्त्रादि के अध्ययन से क्या लाभ ? (और) ऐसे कर्मकाण्ड के चक्कर में पड़ने से ही क्या लाभ जिसका लक्ष्य स्वर्ग में निवास है ॥८१॥

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः सङ्कल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभि प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥८२॥

संसार के भयरूपी सागर को पार करने के लिए ब्रह्म का ध्यान करो। (क्योंकि) उम्र पानी की लहरों की तरह अस्थिर है; जवानी की शोभा भी कुछ दिनों की है; धन मन के सङ्कल्प से भी अधिक क्षणभंगुर है; भोग-विलास वर्षा ऋतु के बादलों की बिजली की तरह चपल है (तथा) अपनी प्रेयसी के साथ किया गया आलिंगन भी स्थायी नहीं है ॥८२॥

ब्रह्माण्डमण्डलीमात्रं किं लोभाय मनस्विनः।
शफरीस्फुरितेनाब्धेः क्षुब्धता जातु जायते ॥८३॥

मनस्वी जनों को मोह में फँसाने के लिए ब्रह्माण्ड मण्डल (सारा संसार) क्या है ? (अर्थात् काफ़ी नहीं है, क्योंकि) मछली के उछलने से कहीं सागर में विक्षुब्धता आती है ॥८३॥

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कार जनितं
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदपि ।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म तनुते ॥८४॥

जिस समय मेरे अन्दर कामदेव रूपी अन्धकार से उत्पन्न अज्ञान था तब मैं सारे संसार को स्त्रीमय देखता था। इस समय अत्यन्त उत्कृष्ट प्रकार के ज्ञान रूपी आँजन लगने पर हमारी दृष्टि सारे विश्व को ब्रह्ममय देखती है ॥८४॥

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली
रम्यः साधुसमागमः शमसुखं काव्येषु रम्याः कथाः ।
कोपोपाहितबाष्पविन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किञ्चित्पुनः॥८५॥

(पहले) चन्द्रमा की रश्मियाँ, हरे तृणों वाली वन की भूमि, साधु जनों के साथ सत्संग, शृंगारभरी काव्य कथा, क्रोध के आँसुओं की बूँदों से तरलित प्रेयसी का मुख—यह सभी चीजें रमणीय लगती थीं। (परन्तु) मन में (संसार की) अनित्यता बैठ जाने पर अब कुछ भी रमणीय नहीं रहा ॥८५॥

भिक्षाशी जनमध्यसंगरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा
दानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः ।
रथ्याक्षीणविशीर्णजीर्णवसनैः संप्राप्तकन्थासखि-
र्निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ॥८६॥

भिक्षा माँग कर खाना, लोगों के बीच में असंग होकर रहना, सदैव स्वतन्त्र प्रयास करना, दान देने और लेने के विषय में निर्लिप्त रहना, रास्ते में फटे पुराने कपड़ों की कथरी पहनना, निरभिमान तथा निरहङ्कार होकर रहना एवं ब्रह्मानन्द की ही इच्छा करना—यह सब कोई तपस्वी ही कर सकता है ॥८६॥

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामेष प्रणामाञ्जलिः।
युष्मत्संगवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परे ब्रह्मणि ॥८७॥

हे माता पृथिवी! हे पिता वायु! हे मित्र अग्निदेव! हे बन्धु जल! और हे भाई आकाश! मैं आप लोगों को करबद्ध प्रणाम करता हूँ। (क्योंकि) आप लोगों के सम्पर्क से निर्मल ज्ञान प्रकाशित हुआ, ज्ञान से मोह-माया दूर हुई। अब मैं परमब्रह्म में लीन होता हूँ ॥८७॥

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महा-
न्प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥८८॥

बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि जब तक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा दूर है और इन्द्रियों की शक्ति कम नहीं हुई है और उम्र भी क्षीण नहीं हुई है तब तक आत्मोद्धार के लिए कस कर प्रयत्न कर डाले। (क्योंकि) घर जलने पर कुँआँ खोदने का प्रयास करने से क्या लाभ ॥८८॥

नाभ्यस्ता भुवि वादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः।
कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत् ॥८६॥

सूने मन्दिर में जलते हुए दीपक की तरह जवानी बेकार हो गई। (क्योंकि) पृथिवी पर हमने न तो विनीत जनों के अनुकूल तथा प्रतिद्व-न्दियों को परास्त करने वाली विद्या का ही अभ्यास किया, न तलवार की धार से हाथियों के मस्तक विदीर्ण करके अपनी कीर्ति ही स्वर्ग तक फैलाई और न ही चाँदनी के निकलने पर रमणी के कोमल अधर-पल्लवों का पान ही किया ॥८६॥

ज्ञानं सतां मानमदादिनाशनं
केषाञ्चिदेतन्मदमानकारणम् ।
स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये
कामातुराणामतिकामकारणम् ॥९०॥

ज्ञान सत्पुरुषों का अहंकार, मद आदि दूर करता है; कुछ लोगों (दुर्जनों) के लिए वह अहङ्कार मद आदि का कारण बनता है। (ठीक वैसे ही जैसे) एकान्त स्थान संयमी व्यक्तियों के लिए मुक्ति का साधन होता है और विलासी व्यक्तियों के लिए वासना का कारण हो जाता है ॥९०॥

जीर्णा एव मनोरथाः स्वहृदये यातं जरां यौवनं
हन्ताङ्गेषु गुणाश्च वन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना ।

किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान्कालःकृतान्तोऽक्षमी
ह्याज्ञातं स्मरशासनांघ्रियुगलं मुक्त्वास्ति नान्या गतिः ॥६१॥

काम नाशक शङ्कर जी के चरणों के अतिरिक्त कोई दूसरी गति नहीं। (क्योंकि) सभी कामनाएँ तो मन में ही जीर्ण-शीर्ण हो गईं। जवानी (भी) बीत गई। गुण के पारखियों के बिना सब गुण भी निष्फल (ही) रहे ; और अब सर्वनाशक, महाबली यमराज सहसा निकट आ रहा है ॥६१॥

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सञ्शालीन्कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूं
प्रतीकारो व्याधेः सखमिति विपर्यस्यति जनः॥६२॥

मनुष्यों ने रोगों की दवाओं को उल्टे सुख मान लिया। (क्योंकि) गला सूखने पर मीठा और सुगन्धित जल पिया जाता है; भुख से पीड़ित होने पर साग आदि के साथ चावल का भोजन किया जाता है ; और कामाग्नि के भभकने पर स्त्री का कस कर आलिंगन किया जाता है ॥६२॥

स्नात्वा गाङ्गैः पयोभिः शुचिकुसुमफलैरर्चयित्वाविभो त्वां
ध्येये ध्यानं नियोज्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यङ्कमूले ।
आत्मारामः फलाशी गुरुवचनरतस्त्वतप्रसादात्स्मरारे
दुःखान्मोक्ष्ये कदाहं तव चरणतो ध्यानमार्गैकनिष्ठः ॥६३॥

हे शङ्कर जी ! गंगाजल में नहा कर, पवित्र पुष्पों से तुम्हारी पूजा करके, पर्वत की गुफा में शिलाओं पर बैठकर (अपने) उपास्य (देव) तुम

में ध्यान लगाकर, आत्मानन्द प्राप्त करने की इच्छा करते हुए गुरुजनों के वचनों का पालन करके, फलाहार करके तथा आपके चरणों में ही ध्यान लगा कर आपकी कृपा से भला मैं कब दुखों से छुटकारा पाऊँगा ।।९३।।

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः ।
येषां निर्झरमम्बुपानमुचितं रत्येव विद्याङ्गना
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः।।९४।।

हम उन्हीं लोगों को परमेश्वर मानते हैं जिनकी शिला (ही) शय्या है, पर्वत की गुफ़ा (ही) घर है, वृक्षों की त्वचा ही वस्त्र है, वन के हिरन ही मित्र हैं, वृक्षों का कोमल फल ही जीविका है, झरने का स्वच्छ जल ही पेय है, जिन्हें विद्यारूपी स्त्री से ही प्रीति है तथा जिन्होंने सेवा भावना से (दूसरों के आगे) हाथ नहीं जोड़ा ।।९४।।

सत्यामेव त्रिलोकीसरिति हरशिरश्चुम्बिनी वच्छटायां
सद्वृत्तिं कल्पयन्त्यां वटविटपिभवैर्वल्कलैः सत्फलैश्च ।
कोऽयं विद्वान् विपत्तिज्वरजनितरुजातीव दुःश्वासिकानां
वक्त्रं वीक्षेत दुःस्थे यदि हि न बिभृयात्स्वे कुटुम्बेऽनुकम्पाम्।।९५।।

ऐसी गंगाजी के उपस्थित रहने पर, जिसका तट शिवजी का सिर है, जो वट वृक्षों के वल्कल तथा अच्छे-अच्छे फलों से एक अच्छी जीविका निर्वाह करती हैं, कौन ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति होगा जो ऐसी स्त्रियों के मुँह को देखे जो मुसीबतों के ज्वर से उत्पन्न लम्बी-लम्बी उसासें लेती हैं—हाँ यदि वह (व्यक्ति) अपने कुटुम्ब की परवाह न करे ।।९५।।

उद्यानेषु विचित्रभोजनविधिस्तीव्रातितीव्रं तपः
कौपीनावरणं सुवस्त्रममितं भिक्षाटनं मण्डनम् ।
आसन्नं मरणं च मंगलसमं यस्यां समुत्पद्यते
तां काशीं परिहृत्य हन्त विबुधैरन्यत्र किं स्थीयते ॥९६॥

पण्डित जन ऐसी काशी नगरी को छोड़कर दूसरी जगह क्यों जाते हैं जहाँ उपवनों में अनेक प्रकार के भोजन, कठिनातिकठिन तप, लंगोटीरूपी वस्त्र और भीख माँगना ही आभूषण हैं तथा जहाँ मृत्यु का निकट आना भी मंगलकारी होता है ॥९६॥

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः॥
चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
र्निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निःसीमशर्मप्रदम् ॥९७॥

हे मन ! उन द्वारपालों को छोड़कर जो (राजा से मिलने वालों से कहते हैं कि) अभी वक्त नहीं हुआ, महाराज इस समय एकान्त में (बैठे) हैं, अभी सो रहे हैं, ड्योढ़ी पर से उठो (क्योंकि) तुम्हें यहाँ बैठे देखकर स्वामी नाराज़ होंगे, अब परमेश्वर की शरण में चल जिसके द्वार पर न तो कोई रोकने वाला है और न क्रूर वचन सुनने को मिलते हैं, जहाँ सब आनन्द ही आनन्द है ॥९७॥

प्रियसखि विपद्दण्डव्रातप्रतापपरम्परा-
तिपरिचपले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः ।
मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्-
भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥९८॥

हे प्रिय सखी बुद्धि ! दुर्जन ब्रह्मा मुसीबतों के ढेर से अत्यन्त चञ्चल चिन्ता रूपी चक्के पर रख कर हमारे मन को वैसे ही भटकाता है जैसे कुशल कुम्हार मिट्टी का पिण्ड बनाकर उसे घुमाता है और उससे अनेक पात्र बनाता है। पर हमें यह नहीं मालूम कि (ब्रह्मा) हमारे मन के पिण्ड से किन-किन चीज़ों का निर्माण करेगा ॥९८॥

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि ।
तयोर्न भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥९९॥

संसार के स्वामी शिवजी और संसार के आत्मा स्वरूप विष्णु में हमें कोई अन्तर नहीं मालूम होता। फिर भी मेरी भक्ति ऐसे शङ्कर में है जिसके मस्तक पर नया चाँद सुशोभित होता है ॥९९॥

रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारवैः
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि ।
मुग्धे स्निग्धविदग्धक्षेपमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं :
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते ॥१००॥

अब हमारे मन ने शङ्कर जी के चरण-कमलों को चूमकर अमृतपान कर लिया हैं। (अतएव) हे कामदेव ! तू धनुष की टङ्कार से कुत्सित अपने हाथ को (तीर चलाने के लिए) क्यों उठाता है ? अरे कोयल ! अपने कलरव से व्यर्थ क्यों कूजन करती है ? हे मुग्धे ! तेरे प्यार भरे तथा मीठे कटाक्षों से भी कोई फ़ायदा नहीं ॥१७०॥

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी
निश्चिन्तं सुखसाध्यभैक्ष्यमशनं शय्या श्मशाने वने ।
मित्रामित्रसमानतातिविमला चिन्तातिशून्यालये
ध्वस्ताशेषमदप्रमादमुदितो योगी सुखं तिष्ठति ॥१०१

ऐसा आनन्दमय योगी ही सुखपूर्वक रह सकता है जिसका कोपीन सैकड़ों टुकड़े हो जानेके कारण जर्जर हो गया है, जिसकी कथरी भी वैसी ही है, जो चिन्तायुक्त है, जिसका भोजन आसानी से मिलने वाली भिक्षा है, जो स्मशान या वन में सोता है, जो दोस्त और दुश्मन में भेद नहीं करता, जो एकान्त मन्दिर में ध्यान लगाता है और जिसका अहङ्कार और प्रमाद ऐसा करने से नष्ट हो गया है ॥१०१॥

भोगा भंगुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव-
स्तत्कस्येव कृते परिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः।
आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां
कामोच्छित्तिवशे स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः॥१०२॥

हे सांसारिक प्राणियो! यह जानकर भी कि सभी भोग विलास नश्वर हैं तथा उनके सम्पर्क के कारण ही जन्म-मरण की परम्परा है तुम लोग भला विषयरूपी चक्र में क्यों फँसते हो? ऐसे परिश्रम से क्या लाभ? यदि हमारी बातों में श्रद्धा करो तो कामनाशक, स्वयं प्रकाश स्वरूप शङ्करजी में अपने ऐसे मन को लगा दो जो आशा-पाश से मुक्त होकर परिष्कृत हो रहा है ॥१०२॥

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशंकमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परिक्षीयते ॥१०३॥

वे श्रेष्ठ पुरुष धन्य हैं जो पर्वत की कन्दरा में निवास करते हैं, परम ब्रह्म के तेज का ध्यान करते हैं तथा जिनके आनन्द के आँसू चिड़ियाँ(उनके)

गोद में बैठकर निर्भय होकर पीती हैं। (क्योंकि) हम लोगों की आयु तो कामना रूपी मन्दिर की बावली के तट पर स्थित क्रीड़ा के वन में केलि करते-करते समाप्त हो जाती है ॥१०३॥

आघ्रातं मरणेन जन्म जरया विद्युच्चलं यौवनं
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतिरप्यपहृता ग्रस्तं न किं केन वा ॥१०४॥

इस संसार में मौत ने ज़िन्दगी को, बुढ़ापे ने जवानी को, वैभव की कामना ने संतोष को, रमणियों के विलास ने शान्ति को, द्वेषी जनों ने गुण को, सर्पों ने जंगल की भूमि को, दुर्जनों ने राजा को तथा चपलता ने धैर्य को नष्ट कर दिया—क्या कोई ऐसी चीज़ भी है जिसको किसी ने नष्ट न किया हो ॥१०४॥

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसा-
त्तत्किं नाम निरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थितम् ॥१०५॥

ऐसी कौनसी वस्तु है जिसे निरंकुश ब्रह्म ने निश्चल बनाया है? (क्योंकि) मनुष्य के स्वास्थ्य का सैकड़ों रोगों ने उन्मूलन कर दिया है; जहाँ धन होता है वहाँ मानो विपत्तियों के लिए दरवाज़ा खुल जाता है; जो जन्म ग्रहण करता है उसे मृत्यु, ज़बरदस्ती अपने वश में कर लेती है ॥१०५॥

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भमध्ये
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमेयौवने विप्रयोगः ॥

नारीणामप्यवज्ञा विलसति नियतं वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ।।१०६।।

हे मनुष्यो ! यदि इस जगत् में तनिक भी सुख हो तो हमें बताओ। (क्योंकि जन्म होने के पहले तो मानव) अशुद्ध मलमूत्र के स्थान में बड़े तकलीफ़ से, हाथ-पैर बँधे रहने पर गर्भ-रूपी बन्दीगृह में रहता है। फिर जवानी में स्त्रियों के वियोग-दुःख से दुःखी रहता है और बुढ़ापे में स्त्रियों से अनादर पाकर सिर नीचा किए हुए निश्चय ही दुर्गति में पड़ा रहता है ।।१०६।।

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ।।१०७।।

जीवन के जल की लहरों की तरह चञ्चल होने पर आदमियों के लिए सुख कहाँ ? (क्योंकि) आदमियों की आयु सौ वर्ष की निश्चित की गई है। उसकी आधी तो रात (सोने) में चली गई। उस (बचे हुए पचास वर्षों) का एक भाग बचपन (के अज्ञान) में और दूसरा बुढ़ापा (की मुसीबतों) में गया। जो बाक़ी बचा वह रोग, वियोग, दुःख, दूसरों की गुलामी, कलह, हर्ष, शोक, हानि-लाभ आदि अनेक प्रकार के क्लेशों में बीतता है ।।१०७।।

ब्रह्मज्ञानविवेकिनोऽमलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुञ्चन्त्युपभोगकाञ्चनधनान्येकान्ततो निःस्पृहाः ।
न प्राप्तानि पुरा न सम्प्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्ययो
वाञ्छामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम् ।।१०८।।

ब्रह्म-चिन्तन से निर्मल हुई बुद्धि वाले महापुरुष यह बड़ी भारी साधना करते हैं कि भोग-विलास, आभूषण, वस्त्र, चन्दन, स्त्री, शय्या, पान तथा धन आदि सभी चीजों का परित्याग कर देते हैं और सदा निरीह रहते हैं। हमें न तो ये वस्तुएँ पहले मिलीं और न अब इच्छा के बल पर ही मिलती हैं। तब भी हम उसका त्याग नहीं कर पाते ॥१०८॥

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥१०६॥

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि लोग तब भी ऐसा काम करते हैं जिससे अहित हो जबकि बुढ़ापा बाघिनी की तरह चिंघाड़ती हुई आगे खड़ी है, रोग दुश्मनों की तरह शरीर पर आक्रमण कर रहे हैं तथा आयु प्रतिदिन उसी प्रकार खिसकती जा रही है जैसे कच्चे घड़े से पानी ॥१०९॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः ।
तदपि तत्क्षणभंगि करोति चेदहह कष्टमपंडितता विधेः ॥११०॥

अरे यह बड़े दुःख की बात है और ब्रह्मा की बुद्धिहीनता है कि (उसने) गुणों के कोष तथा सारी पृथिवी के रत्न-रूप मनुष्य की सृष्टि की और फिर उसे क्षणभंगुर बना दिया ॥११०॥

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते ॥१११॥

वृद्ध पुरुष के लिए यह बड़े क्लेश की बात है कि शरीर सिकुड़ गया है, चाल विनष्ट हो गई है, दाँतों की पँक्ति गिर गई है और आँख भी समाप्त हो रही है, बहिरापन बढ़ता जाता है, मुँह से लार टपकने लगी है, बन्धु-बान्धव बात का आदर नहीं करते, स्त्री सेवा-शुश्रूषा नहीं करती और पुत्र भी दुश्मन बन जाता है ॥१११॥

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्णं विभवः ।
जराजीर्णैरंगैर्नट इव वलीमण्डिततनु-
र्नरः संसारान्ते विशति यमधानीजवनिकाम् ॥११२॥

मनुष्य पल भर में बच्चा रहता है, पल में ही जवान होकर विलास का रसिक हो जाता है। क्षण में ही धनहीन हो जाता है और दूसरे क्षण में एकदम ऐश्वर्यशाली हो जाता है। (और फिर वह) नट की तरह बुढ़ापे से जीर्ण-शीर्ण होकर यमराज की नगरी के पर्दे के पीछे चला जाता है ॥११२॥

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः ॥११३॥

(हम यही चाहते हैं कि) हमारे दिन किसी पवित्र वन में शिव का बारम्बार जप करते बीतें, (जिससे मैं) साँप या हार, बलशाली दुश्मन या दोस्त, मणि या ढेला, पुष्पों की शय्या या पत्थर की चट्टान, तृण या स्त्रियाँ—इन सब के विषय में समदर्शी हो सकूँ ॥११३॥

●